भावना भव-नाशिनी

लेखक

राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय
श्री पुष्कर मुनि जी म० के प्रशिष्य एवं
साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री
के सुयोग्य शिष्य

श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री

प्रस्तावना

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

पुस्तक :

भावना भव-नाशिनी

लेखक :

श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री

(काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न)

सम्पादक :

प्रोफेसर श्री लक्ष्मण भटनागर

भूमिका :

साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री

प्रथम प्रवेश :

वि० सं० २०४१, ज्येष्ठ पूर्णिमा

प्रकाशक :

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल

उदयपुर (राजस्थान)

मूल्य :

(५) रुपए मात्र

मुद्रक :

श्रीचन्द सुराना के लिए

जैन इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा

एक दिव्यात्मा,

जिन्होंने मेरे मन मे प्रशस्त भावनाओं का संचार किया

उन्हीं परम पूज्यनीया मातेश्वरी

महासती श्री प्रकाशवती जी के

कर-कमलों

में

—राजेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय

अपने विचारशील प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में 'भावना भव नाशिनी' ग्रन्थ समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त आल्हाद है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भावना विषयक सटीक मार्मिक विवेचन-वर्णन किया गया है।

चिरकाल से हमारी अभिलाषा थी कि भावना विषयक एक ऐसा ग्रन्थ निकाला जाए जिससे भावनाशील पाठकों को जानकारी प्राप्त हो सके। प्रस्तुत ग्रन्थ का अपने आप में अपना अनूठा वैशिष्ट्य है, जो पाठकों को पढ़ने पर स्वयं ज्ञात होगा। श्रद्धेय उपाध्याय श्री के पौत्र शिष्य व साहित्यवाचस्पति श्रद्धेय देवेन्द्र मुनि जी के सुयोग्य शिष्यरत्न श्री राजेन्द्र मुनि जी ने अल्प समय में प्रस्तुत ग्रन्थ तय्यार कर दिया, अतः हृदय से हम उनके आभारी हैं।

साथ ही हमारे अनुरोध को सम्मान देकर श्रद्धेय देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका लिखी, तथा स्नेह सौजन्यमूर्ति प्रोफेसर श्री लक्ष्मण भटनागर जी ने सम्पादन किया, प्रसिद्ध साहित्य-कार श्रीचन्द जी सुराणा ने ग्रन्थ को मुद्रणकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाया, सभी के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

□□

प्रस्तुत-प्रकाशन में

उदार अर्थ सहयोगी

- श्रीमान् हीरालाल चेतनप्रकाश जी
  नं० ७८६, १८वां क्रॉस
  तानप्पा गार्डन
  सम्पगी रामनगर, बंगलोर-२७

- श्रीमान् हीरालाल नोरतनमल जी
  नं० २४, ७वीं क्रॉस
  सम्पगी रामनगर, बंगलोर-२७

- श्रीमान् लाभचन्द जी लक्ष्मीचन्द जी सिंघवी
  मू० पो० मालपुरा
  जिला—टोंक (राज०)

- श्रीमती सम्पत देवी
  धर्मपत्नी, नोरतनमल जी डोसी
  सुरेन्द्रकुमार नरेन्द्रकुमार डोसी
  पो० बडू, जिला—नागौर (राज०)

- श्रीमान् सुभागचन्द गादिया
  धनलक्ष्मी फंड कम्पनी
  T.O. रोड,
  पो० तुरुवेकेरे (कर्णाटक)
  पिन—५७ २२२७

लेखकीय

'भावना भावनाशिनी' प्रस्तुत सूक्ति कई वर्षों से दिल-दिमाग में घूम रही थी, गागर में सागर वत् सारपूर्ण प्रस्तुत सूक्ति पर दीर्घकालीन चिन्तन-मनन चलता रहा और परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ आज पाठकों के सम्मुख है।

सम्पूर्ण धर्म साधना की सफलता भावना पर ही आधारित है। भावना शुद्ध भी होती है और अशुद्ध भी, भावना से जीवन जहाँ मोक्ष द्वार पर पहुँच जाता है, वही भावना के विपरीत प्रवाह से नरकानुगामी भी यह जीवन बन जाता है। उत्थान और पतन हमारी इन्हीं भावनाओ पर आधारित है, अपनी ही भावनाओ से हम जीवन को प्रशस्त भी बना सकते है और अप्रशस्त भी, शुभ भावो को ही आगमो मे 'योग' की संज्ञा प्रदान की गई है। योग अर्थात् मिलन, भावना ही आत्मा को परमात्मा से मिलाने का सर्वोत्तम उपाय है, शबरी के झूठे बैर, सुदामा के चावल, चन्दना के उडद के बाकुले महापुरुषो को प्रिय लगे, यह भावना का ही चमत्कार था।

जैन आगमो मे भावना का विशद व गम्भीर विवेचन विश्लेषण है, उसके शुभ-अशुभ व विविध प्रकारो का विस्तृत वर्णन है। जैनधर्म की नींव ही भावना पर आधारित है, भावना का मुख्य उद्देश्य है—अशुभ से हटकर शुभ की ओर जीवन का ऊर्ध्वमुखी आरोहण। शुभ की ओर आने के लिए अशुभ को समझना आवश्यक है, जहर को बिना समझे हम उसे छोड भी तो कैसे सकेंगे? और बिना समझे अमृत को ग्रहण भी नही कर पाते, इसी प्रकार अशुभ भावो को बिना समझे उसका परित्याग नहीं कर पाते, इसी दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ मे अशुभ व शुभ भावनाओं का सम्यक् विवेचन किया है। असीम भावना स्वरूप को ससीम शब्दों द्वारा व्यक्त करना मुझ जैसे अल्पज्ञ की क्षमता से बाहर है, फिर भी भावना का ही जोर था जिसने मुझे भावना पर कुछ लिखने हेतु बाध्य किया।

अभी तक काफी ग्रन्थ इस विषय पर लिखे जा चुके है, मूर्धन्य मनीषियों ने इस पर अपनी लेखनी चलाई है उन सभी ग्रन्थो के सामने मेरा लघु प्रयास

दीपक वत् ही है, फिर भी भावों का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ लघु प्रयास भी अपने आप में महत्व रखता है।

बचपन से ही परम पूज्यनीया मातेश्वरी (श्री प्रकाशवती जी म.) के शुभ संस्कार इस अबोध बालक पर पड़े जो आज इस रूप में है, संयम पथ पर आने का व अध्यात्म-साधना की रुचि जागृत होना यह सब मातेश्वरी की ही भावना का प्रतिफल है, अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में परमपूज्य अध्यात्मयोगी राजस्थान केशरी उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज, साहित्यवाचस्पति श्रद्धेय गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री, ज्येष्ठ गुरु भ्राता श्री रमेश मुनि जी महाराज का आशीर्वाद से ही लेखन कला में विकास हुआ है। इस प्रसङ्ग पर स्नेह मूर्ति आदरणीय प्रोफेसर लक्ष्मण भटनागर जी को भी विस्मृत नहीं कर सकता, जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में स्मरणीय सहयोग रहा है, साथ ही आदरणीय श्रीचन्द जी सुराणा का जो लेखक भी है तथा संशोधक प्रबन्ध सम्पादक भी, आपके सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ अतिशीघ्र पाठकों के हाथों में पहुँचा है आशा है पाठकों को यह प्रयास रुचिकर लगेगा।

राजेन्द्र मुनि
आगरा
१०-५-१९८४

□□

भावनायोग

[साधना मे प्राण-संचारक योग]

मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह चिन्तन-शक्ति के कारण ही अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ माना गया है। चिन्तन-शक्ति से ही मानव महान् बनता है और वह चिन्तन-शक्ति के सदुपयोग से ही अन्य शक्तियों को नियन्त्रित तथा संचालित करता है। चिन्तन-शक्ति का ही परिणाम वैज्ञानिक विकास है और वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप यान्त्रिक शक्तियों का विकास हुआ है तथा हर प्रकार की जीवन-सुविधाएँ उपलब्ध हो गई है। द्रुतगामी संचार-साधनो ने जिन्दगी की धड़कन को तीव्रतर बना दिया है। क्षेत्र की परिधि का अत्यधिक विस्तार हो चुका है। किन्तु उदात्त भावनाओं का विकास न होने से जीवन मे द्वन्द्व और तनाव उत्पन्न हो गया है। जिसमे जन-जीवन संशयग्रस्त, भयाक्रान्त, असुरक्षित और भावना शून्य हो रहा है।

मानव भौतिक जगत के नित्य नूतन रहस्यो को जानने के लिए जल, थल और नभ की अतल गहराइयों को नापने के लिए और निस्सीम ऊँचाइयो को स्पर्श करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। भौतिक जगत की यात्रा ने उसे आध्यात्मिक जगत से दूर कर दिया है। वह एक क्षण भी रुककर अपने अन्तर्जगत् पर दृष्टिपात नही कर रहा है। फलस्वरूप भौतिक वैभव तथा वैज्ञानिक उपलब्धियो के अंबार लगने पर भी उसे शान्ति और चैन नही है।

जब भी मानव, स्वभाव को भूलकर विभाव मे विचरण करता है, तभी उसे विकास के स्थान पर विनाश के संदर्शन होते हैं। शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही हाथ लगती है। शान्ति के लिए स्वभाव मे आना आवश्यक है। स्वभाव रमण के लिए भावना किंवा अनुप्रेक्षा के सोपान पर चढना होगा।

अनुप्रेक्षा और भावना

बहिर्भाव से अन्तर्भाव मे रमण करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा मे मानव जीव और जगत् के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन-मनन करता है। अनुप्रेक्षा के अर्थ मे ही जैन आगम साहित्य में भावना शब्द भी व्यवहृत हुआ है।

भाव और भावना

भाव और भावना ये दो शब्द है। भाव एक विचार है, मन की तरग है। वह जल बूंद की तरह है। जब भाव प्रवाह रूप मे प्रवाहित होता है, तब वह भावना के रूप मे परिणत होता है। भावना मे अखण्ड प्रवाह होता है, जिससे मन मे संस्कार स्थायी हो जाते है। भाव पूर्व रूप है तो भावना उत्तर रूप है। सद्विचार, सुविचार से जीवन का परिष्कार होता है और जीव जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होकर मुक्ति को वरण करता है।

भाव का महत्व

भव और भाव इन दोनों शब्दों मे केवल एक मात्रा का अन्तर है। भव संसार है[1] और भाव विचार है। इस संसार से मुक्त होने के लिए भाव आवश्यक है। अध्यात्म जगत् के दिव्य नक्षत्र आचार्य कुन्दकुन्द ने[2] स्पष्ट कहा है "भावना रहित आत्मा कितना ही प्रयास करे, वह मुक्ति प्राप्त नही कर सकता।" आचार्य भद्रबाहु ने[3] कहा है—"बिना पवन के श्रेष्ठतम जहाज भी समुद्र मे चल नहीं सकता। जैसे नौका को चलाने के लिए पवन आवश्यक है वैसे ही संसार सागर से पार उतरने के लिए भावना आवश्यक है।" आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने[4] भी कहा—"भावशून्य क्रिया कभी भी फल-प्रदाता नही होती।" भाव एक कुंजी है। जिससे धर्मरूपी द्वार उद्घाटित हो जाता है। भाव एक औषध है, जिससे भव रूपी रोग नष्ट होते हैं।

आयुर्वेद मे औषधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए उसे विविध रसो मे डाला जाता है। विविध रसों मे डालना 'भावना' कहलाती है। जितनी अधिक भावना दी जायेगी, उतनी ही अधिक औषध गुणकारी होगी। इसी तरह मन को निर्मल विचारो के रस से भावित किया जाये तो मन भी पूर्ण संस्कारित बनता है। निर्मल-विचारों के पुनः-पुनः चित्त में आते रहने से संस्कार सुदृढ़ होते है। सतत अभ्यास से भावना ही ध्यान का रूप ग्रहण करती है।

---

१ भवत्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसारः। —पंचाशक १

२ भावरहिओ न सिज्झइ। —भावपाहुड ४

३ आवश्यकनिर्युक्ति ९५

४ यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः। कल्याणमन्दिरस्तोत्र ३८

भावना के दो भेद

भावना के दो भेद है—एक ऊर्ध्वमुखी भावना, दूसरी अधोमुखी भावना। सद्भावना ऊर्ध्वमुखी भावना है और असद्भावना अधोमुखी भावना है। आचार्य पतंजलि ने भावनारूपी सरिता की दो धाराएँ मानी है। वह ऊपर भी जाती है और नीचे भी जाती है। वह शुभ की ओर भी गति करती है तो अशुभ की ओर भी बहती है। जल की धारा से इक्षु, द्राक्षा, आम, मौसम्बी आदि मधुर रसदार फल भी पैदा होते है और तम्बाकू, अफीम आदि नशीली वस्तुएँ भी उत्पन्न होती है। यदि चित्त वृत्ति मे शुभ विचारो का प्राधान्य होगा तो सुख, शान्ति और आनन्द का सरसब्ज बाग लहलहा उठेगा। इसके विपरीत यदि अशुभ विचारो का प्राधान्य होगा तो अशान्ति, दुःख, दैन्य आदि दानवी वृत्तियाँ पनपेगी। आचार्य संघदासगणि[1] ने भावना पर चिन्तन करते हुए उसके दो प्रकार बताये हैं—"असक्लिप्ट भावना और संक्लिप्ट भावना अर्थात् शुभ भावना और अशुभ भावना। साधक को अशुभ भावना से बचने के लिए निरन्तर शुभ भावना की ओर अग्रसर होना चाहिए।" शुभ भावना ध्यातव्य है और अशुभ भावना ह्रातव्य है। कोई भी विवेकी यह नही चाहता कि कूडे-कचरे को अपने घर मे भरा जाये। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है उसका आवास पूर्ण स्वच्छ हो, इसी तरह सुन्दर भावना से हृदय-मन्दिर को सजाना-संवारना चाहिए।

यो भावनाओ के अनेक भेद-प्रभेद आचार्यो ने किये हैं जिनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ मे है ही। उन सभी का अन्तिम लक्ष्य यही है कि अशुभ से हटकर शुभ मे स्थिर होना। शुभ मे रमण करने के लिए ही भावनाओ का वर्णन है। इन भावनाओं से भावित आत्मा दूसरो को भी श्रद्धाशील बनाता है और स्वयं कालजयी बन जाता है। वस्तुतः भावनाओ का फल है आत्मा को आत्मा मे रमाना। जब साधक भावनाओं का चिन्तन करता है तो उसकी देहासक्ति शिथिल होकर वह देहातीत अवस्था को प्राप्त होता है। यही साधना मे प्राण सचारक योग है।

प्रस्तुत पुस्तक

भावना योग की इस अपूर्व महत्ता को स्वीकार कर भावना पर विशेष लक्ष्य देना, भावना शुद्धि पर सतत ध्यान देना अनिवार्य है। भावना शुद्धि ही

---

१ दुविहाओ भावणाओ असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।

सम्यक् में जीवन-शुद्धि का आधार है। भावना-भव रोग का (जन्म-मरण) का नाश कर अजर-अमर पद प्रदान करती है, इसलिए 'भावना भव नाशिनी' सूक्ति में पूर्ण सत्यता है।

मेरे शिष्य श्री राजेन्द्र मुनि जी ने काफी अध्ययन-मनन करके दीर्घकालीन परिश्रम के बाद प्रस्तुत 'भावना भवनाशिनी' पुस्तक का प्रणयन किया है। राजेन्द्र मुनि में अध्ययन रुचि है लेखन रुचि भी है, विषय को विस्तार व संक्षेप देने की शैली अच्छी है 'भावना योग' जैसे विशाल विषय का संक्षिप्त रूपरेखा के साथ प्रस्तुत करके इसके व्यावहारिक स्वरूप पर भी सुन्दर चिन्तन किया है। मेरा विश्वास है, यह पुस्तक गागर में सागर की तरह पाठकों के लिए उपयोगी होगी। मार्गदर्शन करेगी और जीवन-विशुद्धि के पवित्र पथ पर प्रशस्त करेगी।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

विषयानुक्रम

भावना भव-नाशिनी

१

भावना-परिचय

आत्मा शुद्ध होकर हो जाती,
नौका समान जब होती है भावना युक्त ।
साधक को भव सागर तैराकर,
दुःख हरण कर कर देती है मुक्त ॥

मनुष्य की सर्वोत्तमता का आधार : विचारशीलता

मनुष्य इस सृष्टि की सर्वोत्तम रचना है—'अशरफुल मखलूकात' है। इस सर्वोत्कृष्टता का मूल आधार है उसकी विवेकशीलता एवं विचारशीलता। जगत् की समस्त विभूतियों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। धरती और आकाश, पवन और प्रकाश, बादल और जल, फूल और फल, चन्द्र और भास्कर, सरिता और निर्झर—सभी का अपना-अपना सौन्दर्य है, अपनी-अपनी महत्ता है। इन असंख्य उपादानों के योग का सुखद परिणाम ही यह जगत् है। जगत् के स्पन्दन में इन जड़ उपादानों के साथ-साथ सचेतन प्राणियों का योगदान भी अतिमहत्वपूर्ण है। प्राणियों के विशिष्ट गुण—'चैतन्य'—के कारण वे जगत् के शेष उपादानों की अपेक्षा उत्तम स्वीकार किये जाते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुरूप सर्वाधिक चैतन्य के कारण प्राणियों के सहस्राधिक वर्गों में मानव जाति सर्वश्रेष्ठ है। सदसद् और हिताहित के विवेक से युक्त मनुष्य के साथ अन्य कोई भी प्राणी प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाता। प्रेम, करुणा, दया, ममता, साहचर्य, बन्धुत्व, संवेदना, इत्यादि असंख्य भावों का अद्भुत समाज मानव-हृदय में ही निवास करता है। ये मनोभाव अन्य प्राणियों में या तो सर्वथा अनुपस्थित हैं, या इनमें से अमुक विद्यमान भी हैं, तो वे सर्वथा विरल और अविकसित अवस्था में हैं; अव्यक्त रूप में हैं। चिन्तन, विवेक और निर्णय की क्षमता का वरदान तो मात्र

मानव जाति को ही प्राप्त हुआ है। यही विचारशीलता और भाव-प्रधानता मनुष्य के श्रेष्ठत्व के निर्माण की आधार-शिला है।

यह विचारशीलता मनुष्य का सहज धर्म है, स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जो विचारशील नहीं, वह मानव-देह होकर भी मनुष्य कहलाने का उचित अधिकार नहीं रखता। मानव-मन विचार से रहित किसी भी क्षण नहीं रह सकता। मन तो दर्पण के समान है, दर्पण को किसी भी दिशा में, किसी भी कोण से रख दीजिए—वह अपने समक्ष के दृश्य की प्रतिच्छवि अपने भीतर सहेज ही लेगा। उसे उलट कर रख देने पर भी उसमें उस धरातल की छवि अंकित हो जायगी जिसमें उसका स्पर्श हो रहा है। दर्पण छवि रहित और मानव-मन भाव या विचार रहित किसी भी अवस्था में नहीं रह पाता। विचार-विहीन मन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। निद्रावस्था में भी मनुष्य की काया ही निश्चेष्ट रहती है, वरन् उसका मानस तो सक्रिय ही रहता है। स्वप्नों की माया के रूप में यही विचारशीलता सक्रिय रहती है।

मनुष्य के उत्थान-पतन का कारण भी यही विवेक-विचार होता है। सद्-विचार सत्कर्मों की प्रेरणा देते हैं और मनुष्य का उत्थान होता है। इसी प्रकार असद्विचार उसे दुष्कर्मों की ओर धकेल कर पतन के कारण बनते हैं। भला अथवा बुरा—मनुष्य जैसा भी है वह उसके मानस का ही व्यक्त प्रतिरूप है। यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि विवेक-विचार मनुष्यता का पर्याय बन गया है। विवेक के आलोक से भरा हृदय एक शान्त और पवित्र स्थल है जहाँ सच्ची मानवता का निवास होता है। इस प्रकाश से रहित मन मरघट के समान है जहाँ दानवीय प्रवृत्तियाँ पैर जमाये रहती हैं। ऐसा मनुष्य केवल मानव-देहधारी ही होता है, उसका जीवन तो पशुवत होता है।

मनुष्य परिवर्तनशील प्राणी होता है। उसका अशुभ से हटकर शुभ की ओर अग्रसर होना—एक सहज स्वभाव है। यही उसके कल्याण का मार्ग है और सद्-प्रेरणाएँ उसके प्रयत्न में सामर्थ्य रहा करती हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संसार भर की समस्त सद्प्रेरणाएँ भी उसी मनुष्य के कल्याण में सफल रहती हैं जिसमें विवेक और विचारशीलता है, अन्यथा सारे सदुपदेश कठोर शिला पर जल-प्रवाह की भाँति फिसल जाते हैं और अन्तत शिला अपनी समस्त कठोरता के साथ सूखी पड़ी रह जाती है। विचारहीन व्यक्ति को तो स्वयं ब्रह्माजी भी सुखी नहीं बना सकते। "ब्रह्मापि तं न नरं रंजयति।" विचार और विवेक ही मनुष्य के जीवन का निर्माण करने वाले समर्थ तत्त्व हैं। यही मानव-जीवन-प्रासाद की दृढ़ आधार-शिला है।

विचार-वैभव मनुष्य मात्र के लिए और मात्र मनुष्य के लिए

स्पष्ट है कि मनुष्य मात्र को यह विचार-वैभव सजाता-संवारता है, उसके कल्याण में सहायक होता है, उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता है। साथ ही यह भ

सत्य है कि यह मानव-हितकारी विचार-वैभव मात्र मनुष्य के ही लिए है। किसी अन्य योनि के लिए इसकी कोई उपादेयता नही। स्वर्ग मे प्राणी सर्वथा निश्चिन्त होता है। समस्त सुख-वैभव उसे अनायास ही सुलभ रहते है। परिणामत. विचारो की दिशा मे गतिशील होने की प्रेरणा ही उसमे स्फुरित नही हो पाती। नरक की कठोर यंत्रणाओ और पीडाओ से प्राणी ऐसा घिरा रहता है कि आहों-कराहो से भरे उसके हृदय मे किसी विचार के लिए कोई अवकाश ही शेष नही रहता। इस जगत् मे तिर्यञ्च गति के प्राणी भी असमर्थ रहते है, उनमें विवेक-विचार की कल्पना भी नही की जा सकती। मात्र मानव-जीवन ही वैचारिक सक्रियता का एक मात्र सुरम्य क्षेत्र है।

विचार और भावना

जो विचार है, क्या वही भावना है? उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि विचार का परिष्कृत, विकसित और परिपुष्ट रूप ही भावना की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। चिन्तन-अनुचिन्तन के मनोमन्थन द्वारा प्राप्त नवनीत ही भावना है। जब विचार मन मे बार-बार उठते रहते है तो वे क्रमशः स्वयं भी सशक्त होते जाते हैं और मन को भी स्वानुरूप प्रभावित करते चलते हैं। इस प्रकार विचार—भावना का रूप ले लेते है। यह भी कहा जा सकता है कि विचार भावना का आरंभिक रूप है। "मैं कौन हूं? मेरा क्या कर्त्तव्य है? मुझ मे विकार क्यो आये? सासारिक वासनाएँ मुझमे क्यो प्रविष्ट हुई?"—मनुष्य इस प्रकार सहज़त. चिन्तन करता है और वह विचार-प्रक्रिया है।[1] इसी प्रक्रिया का आगामी चरण है—भावना। उदाहरणार्थ—इन प्रश्नो पर मनुष्य बडी गहनता के साथ सघन चिन्तन करता है। बार-बार इन प्रश्नो के यथार्थ को साक्षात् करने का प्रयत्न करता है। परिणामत. वह कतिपय निष्कर्षों को प्राप्त कर लेता है। विश्लेषण कर वह हेय और श्रेय का, ग्राह्य और त्याज्य का निर्णय कर लेता है और स्वमार्ग निर्धारित कर लेता है। ये ही 'विवेक जन्य निष्कर्ष' भावना का रूप ले लेते है। इस प्रकार विचार-मथन से सत्यासत्य और हिताहित से उसका साक्षात हो जाता है, आत्मा उद्विग्नता से दूर होकर शान्ति-लाभ कर लेती है।[2]

भावना—भवनाशिनी

भावना मनुष्य की सबसे बडी सम्पत्ति है, यह उसकी सर्वोच्च शक्ति है। भव-भय से मुक्त करने का अपार सामर्थ्य होने के कारण भावना मनुष्य की परम

---

१ कोऽहं कथमयं दोषः ससाराख्य उपागतः।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥ —योग वाशिष्ठ

२ विचाराद् जायते तत्त्वं तत्त्वाद् [illegible] —योग वाशिष्ठ

हितैषिणी कही जाती है। भावना अपने क्रमिक विकास में ही मोक्षप्रदा हो जाती है। मानव-जीवन का परम और चरम लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। प्राणी मानव-योनि में ही इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न कर सकता है। इस उपक्रम के लिए अन्य किसी भी योनि को समुचित नहीं कहा जा सकता है। मानव-जीवन में प्राणी जन्म-मरण के अजस्र चक्र को सदा-सदा के लिए स्थगित करने की जो क्षमता रखता है, उस क्षमता का मूल स्रोत भावना ही है। इसी दृष्टि से भावना को भवनाशिनी कहा जाता है। भावना इस प्रकार अपार शक्ति-पुंज है जो मनुष्य को चिरशान्ति और अनन्त सुख सुलभ करा सकती है, मोक्ष प्रदान करती है।

अपनी इसी विशिष्टता के आधार पर भावना को 'योग' की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। योग का सामान्यार्थ है—'मिलन' और अपने विशिष्ट अर्थ में योग का अभिप्राय है— आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन कराने वाला साधन।' भावना जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार ही नहीं करवाती, इन दोनों के मध्य स्थायी और अटूट सम्मेलन भी स्थिर करती है। यही सुख-शान्ति की स्थिति मोक्ष है जो भावना द्वारा मनुष्य स्वयं अपने लिए सुलभ कर लेता है। अस्तु, भावना को योग की श्रेणी में स्थान दिया जाना सर्वथा औचित्यपूर्ण है, तर्कसम्मत है। मोक्षदायक योग अनेकानेक प्रकार के हैं और उनमें भावनायोग को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। सूत्रकृतांग के अनुसार—जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग से विशुद्ध होती है वह आत्मा जल-स्थित नौका के समान संसार-सागर पार कर, सब दुःखों से मुक्त हो परम सुख को प्राप्त करता है।[1] वस्तुतः भावनायोग का लक्ष्य वैराग्य है और वैराग्य ही मोक्ष के रूप में फलित होता है। यह विशेषतः ध्यातव्य है कि भावना-साधित वैराग्य ज्ञानाधारित होता है और इस कारण इस मार्ग से प्राप्त वैराग्य प्रबल और स्थायी होता है। भावना का ही आगामी सोपान ध्यान व समाधि है।

व्यक्ति के स्वरूप को समझकर, उसके आचरण का अध्ययन कर हम निश्चित रूप से उसके हृदयस्थ भावों से भी अवगत हो सकते हैं। अन्तरात्मा की भावनाओं के अनुसार ही व्यक्ति का समस्त बाह्य व्यवहार आकार ग्रहण करता है। भावना इसी रूप में जीवन की नियन्ता और निर्मात्री हुआ करती है। शुभ भावनाएँ मनुष्य को सज्जन, धर्मप्रिय और सदाचारी बनाती हैं, तो अशुभ भावनाएँ उसे दुर्जन, अधर्मी और दुराचारी बना देती हैं।

---

१. **भावणाजोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया।**
नावा व तीरसम्पन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टति॥

फल-प्राप्ति भावनानुसार ही सम्भव

प्राचीन काल में कभी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। धरती सूखी-प्यासी पड़ी थी। अपनी सन्तान की भूख-प्यास से व्याकुल धरती का हृदय फट पड़ा। सूखे जलाशयों के तलों में पड़ी दरारें कदाचित इसी की प्रतीक थीं। आकाश स्वच्छ--मेघ का एक खण्ड भी नहीं। आबाल-वृद्ध-नर-नारी, पशु-पक्षी--सभी प्राणी अतिशय पीड़ित। इन्द्र देव को प्रसन्न करने के लिए विशाल यज्ञ का आयोजन किया गया। पूर्णाहुति के अवसर पर दूर-समीप के सहस्रोंजन एकत्रित हो गये। आचार्य ने पूर्णाहुति दी। सहसा मेघ घिर आये और झम्-झम् सुखद वर्षा होने लगी। अद्भुत हर्ष छा गया। यज्ञ की सफलता पर सभी आचार्य को बधाई देने लगे। आचार्य ने इसी समय उपस्थित जनों को सम्बोधित करते हुए उद्बोधन दिया कि यज्ञ की सफलता आप हजारों लोगों की उपस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। पूर्णाहुति में सम्मिलित होने की परम्परा मात्र का निर्वाह ही किया है आपने। वह देखिये! सबसे पीछे बैठा वह बालक इस सफलता के श्रेय का पात्र है। उसके हाथ में छाता है। उसे विश्वास था कि यज्ञ सम्पन्न होने पर वर्षा अवश्य होगी और उसने सोचा कि वर्षा के कारण मैं भीग जाऊंगा लौटकर घर कैसे आऊंगा। इसी-लिए वह छाता अपने साथ लाया। उसके इस दृढ़ विश्वास ने ही मेघों को विवश कर दिया है।

यह विश्वास ही वह भावना है जो सफलता के मूल में सक्रिय रहती है। ईश-प्राप्ति जैसी दुर्लभ सिद्धि भी भावना का आधार पाकर सुलभ हो जाती है। ईश-निवास नहीं है तो कहीं किसी निश्चित स्थान पर नहीं है और है तो वह सृष्टि के चप्पे-चप्पे में व्याप्त है। यदि किसी को काष्ठ-प्रतिमा में ईश्वर के दर्शन होते हैं तो फिर किसी अन्य भक्त को प्रस्तर-प्रतिमा में ईश-दर्शन कैसे हो सकते हैं। वह यदि है तो किसी एक ही प्रतिमा में तो है। यथार्थ यह है कि वह किसी भी प्रतिमा में नहीं है, किन्तु भाव सहित दृष्टि से भक्त जहाँ भी देखता है उसे ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। ईश्वर के दर्शन का आधार भौतिक प्रतिमा नहीं, अपितु मानसिक भावना मात्र है—

न तो काष्ठ में न पाषाण में न मिट्टी में भगवान रहते हैं।

भाव में भगवान हैं अस्तु, भाव को ही महान कहते हैं॥

संसार में कोई भी कार्य भाव के बिना सम्पन्न नहीं हो पाता। अनायास संयोग मात्र से, बिना किसी इरादे या भाव के जो कार्य हो जाता है उसका श्रेय या भार कर्ता पर कदापि नहीं माना जा सकता। उपवास एक साधना है—फलदायी साधना है, किन्तु उपवास का फल तो तभी प्राप्त होगा जब उसे भाव सहित अप-नाया जाय जिसे आहार उपलब्ध नहीं हो रहा वह निरन्न रह, यह उसकी

दुर्गतिनाशिनी कही जाती है : भावना अपने क्रमिक विकास में ही मोक्षप्रदा हो जाता है। मानव-जीवन का परम और चरम लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति । प्राणी मानव-योनि में ही इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न कर सकता है। इस उपक्रम के लिए अन्य किसी भी योनि को समुचित नहीं कहा जा सकता है। मानव-जीवन में प्राणी जन्म-मरण के अजस्र चक्र को सदा-सदा के लिए स्थगित करने की जो क्षमता रखता है, उस क्षमता का मूल स्रोत भावना ही है। इसी दृष्टि से भावना को भवनाशिनी कहा जाता है। भावना इस प्रकार अपार शक्ति-पुंज है जो मनुष्य को चिरशान्ति और अनन्त सुख सुलभ करा सकती है, मोक्ष प्रदान करती है।

अपनी इसी विशिष्टता के आधार पर भावना को 'योग' की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। योग का सामान्यार्थ है—'मिलन' और अपने विशिष्ट अर्थ में योग का अभिप्राय है— आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन कराने वाला साधन।' भावना जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार ही नहीं करवाता, इन दोनों के मध्य स्थायी और अटूट सम्मिलन भी स्थिर करता है। यही सुख-शान्ति की स्थिति मोक्ष है जो भावना द्वारा मनुष्य स्वयं अपने लिए सुलभ कर लेता है। अस्तु, भावना को योग की श्रेणी में स्थान दिया जाना सर्वथा औचित्यपूर्ण है, तर्कसम्मत है। मोक्षप्रद योग अनेकानेक प्रकार के है और उनमें भावनायोग को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। सूत्रकृतांग के अनुसार—जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग से विशुद्ध होती है वह आत्मा जल-स्थित नौका के समान संसार-सागर पार कर, सब दुःखों से मुक्त हो परम सुख को प्राप्त करता है।[1] वस्तुतः भावनायोग का लक्ष्य वैराग्य है और वैराग्य ही मोक्ष के रूप में फलित होता है। यह विशेषतः ध्यातव्य है कि भावना-प्रसूत वैराग्य ज्ञानाधारित होता है और इस कारण इस मार्ग से प्राप्त वैराग्य अटल और स्थायी होता है। भावना का ही आगामी सोपान ध्यान व समाधि है।

व्यक्ति के स्वरूप को समझकर, उसके आचरण का अध्ययन कर हम निश्चित रूप से उसके हृदयस्थ भावों से भी अवगत हो सकते हैं। अन्तरात्मा की भावनाओं के अनुसार ही व्यक्ति का समस्त बाह्य व्यवहार आकार ग्रहण करता है। भावना इसी रूप में जीवन की नियन्त्री और निर्मात्री हुआ करती है। शुभ भावनाएँ मनुष्य को सज्जन, धर्मप्रिय और सदाचारी बनाती हैं, तो अशुभ भावनाएँ उसे दुर्जन, अन्यायी और दुराचारी बना देती हैं।

---

1. भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
   णावा व तीरसम्पन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥

   सूत्रकृतांग १।१५।

फल-प्राप्ति भावनानुसार ही सम्भव

प्राचीन काल में कभी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। धरती सूखी-प्यासी पड़ी थी। अपनी संतान की भूख-प्यास से व्याकुल धरती का हृदय फट पड़ा। सूखे जलाशयों के तलों में पड़ी दरारें कदाचित उसी की प्रतीक थीं। आकाश स्वच्छ--मेघ का एक खण्ड भी नहीं। आबाल-वृद्ध-नर-नारी, पशु-पक्षी— सभी प्राणी अतिशय पीडित। इन्द्र देव को प्रसन्न करने के लिए विशाल यज्ञ का आयोजन किया गया। पूर्णाहुति के अवसर पर दूर-समीप के सहस्रोजन एकत्रित हो गये। आचार्य ने पूर्णाहुति दी। सहसा मेघ घिर आये और झम्-झम् सुखद वर्षा होने लगी। अद्भुत हर्ष छा गया। यज्ञ की सफलता पर सभी आचार्य को बधाई देने लगे। आचार्य ने इसी समय उपस्थित जनों को सम्बोधित करते हुए उद्बोधन दिया कि यज्ञ की सफलता आप हजारों लोगों की उपस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। पूर्णाहुति में सम्मिलित होने की परम्परा मात्र का निर्वाह ही किया है आपने। वह देखिये! सबसे पीछे बैठा वह बालक इस सफलता के श्रेय का पात्र है। उसके हाथ में छाता है। उसे विश्वास था कि यज्ञ सम्पन्न होने पर वर्षा अवश्य होगी और उसने सोचा कि वर्षा के कारण मैं भीग जाऊंगा, लौटकर घर कैसे आऊंगा। इसी-लिए वह छाता अपने साथ लाया। उसके इस दृढ़ विश्वास ने ही मेघों को विवश कर दिया है।

यह विश्वास ही वह भावना है जो सफलता के मूल में सक्रिय रहती है। ईश-प्राप्ति जैसी दुर्लभ सिद्धि भी भावना का आधार पाकर सुलभ हो जाती है। ईश-निवास नहीं है तो कहीं किसी निश्चित स्थान पर नहीं है और है तो वह सृष्टि के चप्पे-चप्पे में व्याप्त है। यदि किसी को काष्ठ-प्रतिमा में ईश्वर के दर्शन होते हैं तो फिर किसी अन्य भक्त को प्रस्तर-प्रतिमा में ईश-दर्शन कैसे हो सकते हैं। वह यदि है तो किसी एक ही प्रतिमा में तो है। यथार्थ यह है कि वह किसी भी प्रतिमा में नहीं है, किन्तु भाव सहित दृष्टि से भक्त जहाँ भी देखता है उसे ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। ईश्वर के दर्शन का आधार भौतिक प्रतिमा नहीं, अपितु मानसिक भावना मात्र है—

न तो काष्ठ में न पाषाण में न मिट्टी में भगवान रहते हैं।
भाव में भगवान है अस्तु भाव को ही महान कहते हैं।।

संसार में कोई भी कार्य भाव के बिना सम्पन्न नहीं हो पाता। अनायास, संयोग मात्र से, बिना किसी इरादे या भाव के जो कार्य हो जाता है उसका श्रेय या भार कर्त्ता पर कदापि नहीं माना जा सकता। उपवास एक साधना है—फलदायी साधना है किन्तु उपवास का फल तो तभी प्राप्त होगा जब उसे भाव सहित अप नाया जाय जिसे आहार नहीं हो रहा वह निरन्न रहे यह उसका

विवशता मात्र है। ऐसे अनाहार को उपवास की संज्ञा इसी कारण नहीं दी जा सकती; क्योंकि उसके पीछे उपवास की भावना नहीं है। केवल भूखे रहना उपवास नहीं है। अनजाने में किसी से जीवहिंसा हो जाय तो वह इसीलिए हिंसा नहीं कहलाती कि उसके पीछे हिंसा का इरादा या भावना नहीं होती। यह भाव ही है जो फलप्रद होता है और फल सदा भावानुसार ही होता है। शुभ भावना का शुभ फल और अशुभ भावना का अशुभ फल—सर्वथा अटलनीय होता है। अशुभ कर्म प्रत्यक्षतः हो रहा हो, किन्तु उसके पीछे भाव अशुभ न हो तो परिणाम भी अशुभ नहीं हो सकता। परिणाम का सम्बन्ध कर्म अथवा क्रिया से न होकर उसके पीछे की भावना से रहता है। पीड़ित को रोगमुक्त करने के लिए, उसे सुखी बनाने के लिए चिकित्सक शल्यक्रिया करता है। दुर्भाग्यवश रोगी की मृत्यु हो जाती है। प्रत्यक्षतः तो चिकित्सक की क्रिया के परिणामस्वरूप ही रोगी की मृत्यु हुई किन्तु चिकित्सक पर हत्या का पाप-भार इस कारण नहीं आता कि उसके मन मे हत्या का भाव नहीं था। भगवान महावीर का उपदेश है—**जो आस्रव है, कर्मबंध के हेतु हैं, वे ही भावना की पवित्रता के कारण परिस्रव अर्थात् कर्मनिर्जरा के कारण बन जाते है।**[1] काव्य जगत का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि प्रकृति के जो उपादान संयोग के क्षणों मे सुख-वृद्धि करते हैं; वे ही वियोग की घड़ियों मे अपार पीड़ादायक हो जाते हैं। प्रियतम के साथ जब प्रियतमा होती है तो चांदनी रात उसे बड़ी शीतल और सुखद प्रतीत होती है, किन्तु वियोग काल मे वही चाँदनी चिता के समान दाहक लगने लगती है। यहाँ यह मन्तव्य ध्यातव्य है कि सुख और दुःख चाँदनी से नहीं अपितु प्रियतमा की मनो-भावना के साथ जुड़ा हुआ है। 'ओघनिर्युक्ति' मे इसी सिद्धान्त का सुस्पष्ट प्रति-पादन करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने वर्णित किया है कि जो-जो कारण माया और सांसारिकता की वृद्धि करते हैं; वे ही भावना-परिवर्तन के साथ विरक्ति-वर्धक हो जाते हैं।

भाव अद्भुत शक्तिशाली तत्त्व है, जिसम बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों पर स्वानुकूल प्रभाव डालने की अपार सामर्थ्य रहती है। मीरां ने अमृत की भावना से विष का पान किया और वस्तुतः विष का प्रभाव अमृतवत् हो गया। दुष्ट अंगुलिमाल पर गौतम बुद्ध की शुभ भावना का प्रभाव हुआ और उसकी दानवीय प्रवृत्ति शान्त हो गयी। शत्रु के साथ यदि हम निरन्तर मित्रता का व्यवहार करते रहे तो अन्ततः शत्रु भी हमारा मित्र हो जाता है। भावना का प्रभाव भावक पर भी अनि-वार्य रूप से पड़ता है। जिसके मन मे भय की भावना रहती है, वह भयभीत, कायर पुरुष बन जाता है, जिसमें उत्साह का भाव है वह वीर पुरुष बनेगा।

---

1 **जे आसवा ते परिस्सवा** ४२

इस प्रकार मानव-जीवन के निर्माण मे भावना की असन्दिग्ध रूप मे विराट भूमिका है। भाव के बिना किसी क्रिया का फल पूर्ण रूप से होना सम्भव नही है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो इस सिद्धान्त का महत्व और भी अधिक है। 'भाव पाहुड' मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी मान्यता को इस प्रकार व्यक्त किया है कि भावना से रहित आत्मा कितना ही प्रयत्न क्यों न करले उसे मुक्ति-लाभ नहीं हो सकता।[1] जैन धर्मशास्त्रों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के चार मार्ग है—दान, शील, तप और भावना।[2] अन्तिम और चौथा मार्ग भावना है। यह वस्तुतः पृथक मार्ग न होकर पूर्ववर्ती तीन मार्गों का अनिवार्य धर्म है। दान, शील और तप अवश्य ही मोक्षप्रद होते है, किन्तु वास्तविकता यह है कि ये मोक्ष के मार्ग तभी सिद्ध हो पाते है जब उनके साथ भावना का योग हो। भावना से रहित दिया गया दान व्यर्थ हो जाता है। भाव-शून्य तप भी इसी प्रकार कोरा काया-कष्ट ही रह जाता है। भाव से रहित धर्म के ये मार्ग केवल बाह्याचार और आडम्बर मात्र बनकर रह जायेंगे, सिद्धि-दायक रूप इनमें शेष नहीं रहेगा। भव समुद्र को पारकर मोक्ष के उस पार तक पहुँचने के लिए दान, शील, तपादि यदि नौकाएँ है तो इन नौकाओं के सचरण के लिए भावनारूपी पवन की अत्यावश्यकता रहती है। आचार्य भद्रबाहु का कथन इस मान्यता की पुष्टि मे उल्लिखित किया जा सकता है—

वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं।

---

१ भावरहिओ न सिज्झइ।

१ दाणं च सीलं च तवो भावो एव चउव्विहो धम्मो

२

भावना-स्वरूप : विभिन्न दृष्टियाँ

बार-बार मन में उठकर जो
आचरण और मन को दे संस्कार।
परिष्कृत करे जो चिंतन की धारा
को—भावना है ऐसा विचार॥

अपर नाम अनुप्रेक्षा

जैन धर्मग्रन्थों में भावना का अतिव्यापक और अति सघन प्रतिपादन मिलता है। वस्तुतः जैन धर्म और धार्मिक कृत्यों में भावना को आधार-शिला के रूप में स्वीकृति प्राप्त है और इस कारण उसका शास्त्रों में विस्तृत विवेचन स्वाभाविक ही है। जैनागमों में भावना के लिए अपर नाम के रूप में 'अनुप्रेक्षा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शब्द-विश्लेषण के द्वारा अनुप्रेक्षा की भावना के साथ पर्यायता और इस शब्द की सार्थकता को हृदयंगम किया जा सकता है। ईक्षा का शाब्दिक अर्थ है—देखना। 'प्र' उपसर्ग के योग से 'प्रेक्षा' बना—जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु को गहराई और सूक्ष्मता के साथ देखना अथवा समझना। यही किसी विषय पर चिन्तन-मनन है। इस प्रकार आत्मादि विषयों पर जो ऐसा गंभीर चिन्तन होता है—वही अनुप्रेक्षा बन जाता है; आत्म-चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है। किसी विषय पर पुनः-पुनः चिन्तन-अनुचिन्तन का क्रम चलता है तो परिणामतः साधक 'ध्यान' की स्थिति में पहुँच जाता है। ध्यान ही इस प्रकार भावना का आगामी सोपान हुआ करता है। व्यवहार-गत दृष्टि से भावना, अनुप्रेक्षा और ध्यान समानार्थक शब्दों की भाँति प्रयुक्त हुआ करते हैं। आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का ही प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'अणुवेक्खा' का प्रयोग किया है और उत्तराध्ययन में 'अणुप्पेहा' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका आशय धर्मादि विषयों पर चिन्तन से है और यही भावना का मूल अभिप्राय है।

भाव और भावना

जैन ग्रन्थों में भावना की पारिभाषिक विवेचना भी अनेक प्रकार से की गयी है। यहाँ भाव और भावना इन दोनों के सम्बन्ध पर विचार करना भी

उपयोगी ही रहेगा। वैसे इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर सार्थकता के साथ किया जा सकता है और किया भी जाता है। भाव अपने सीमित और यथार्थ स्वरूप में 'विचार' है। यही विचार शास्त्रीय दृष्टि से 'अभिप्राय' भी माना जाता है। आचार्य शीलांक का मन्तव्य इसी आशय का है —

चित्त का अभिप्राय भाव है।[1] अन्तःकरण की परिणति विशेष भाव है।[2]

चित्त कभी विचार-शून्य तो रहता ही नहीं। अनेकानेक विचार अथवा भाव आते रहते है। इनमे से कोई भावविशेष अथवा अभिप्रायविशेष मन मे बार-बार उठता रहता है और केन्द्रीभूत होकर सघन रूप ग्रहण कर लेता है—वही भावना का स्थान ले लेता है। चिन्तकों और तत्त्ववेत्ताओं ने चिन्तनानुचिन्तन, अध्यवसाय, वासना या सस्कार के रूप मे भावना को विश्लेषित किया है। भावना सामान्य विचारणा से भिन्न है। विषय-विशेष पर दत्तचित्त-चिन्तन एकाग्र मनन भावना है, जो मन पर क्रमश अपने सस्कार स्थापित करती चलती है। इस प्रकार सस्कारित मन के अनुकूल ही मनुष्य का बाह्य व्यवहार भी परिवर्तित होता चलता है। जो विचार इस श्रेणी तक पहुँच पाते है—यथार्थ में वे ही भावना का रूप धारण कर पाते हैं। आचार्य हरिभद्र ने तो भावना की इस क्षमता और भूमिका को ही भावना का सर्वस्व स्वीकार किया है और आवश्यक सूत्र की टीका मे भावना को परिभाषित करते हुए उन्होंने व्यक्त किया है—"जिस (विचार) के द्वारा मन को भावित या सस्कारित किया जा सके, वही भावना है।[3] यही भावना--वासना भी कही जाती है। अनुयोग-द्वार-टीका मे भी भावना की व्याख्या इसी आशय के साथ की गयी है—"पूर्व से पूर्वतर अर्थात् सस्कारो की अस्खलित धारा को कार्य रूप मे परिणत करना—यही भावना है।[4] सस्कार भी और सस्कार-जन्य चिन्तन भी—दोनों को इस प्रकार भावना माना गया है। कुल मिलाकर वे विचार भावना कहलाते है जो आत्मा को तदनुकूल भावित करने की समर्थता रखते हो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अमुक विचार पर पुनः-पुन चिन्तन तो अनिवार्य है ही—

पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं भावना

इसी आशय के साथ यह भी कहा जाता है कि क्रिया का सम्यक् अभ्यास ही भावना है। अभ्यास ही धीरे-धीरे भावना के रूप मे परिणत होता है। अतः आचार्य

---

१ **भावश्चित्ताभिप्रायः।** —आचारांग टीका
२ **भावोऽन्तःकरणस्य परिणतिविशेषः।** —सूत्रकृतांग टीका
३ **भाव्यतेऽनयेति भावना।** —आवश्यक-४ टीका
४ **अव्यवच्छिन्न पूर्व-पूर्वतर संस्कारस्य पुन पुनस्तदनुष्ठानरूपा भावनेति।**

मलयगिरि ने भी भावना को सतत अभ्यास के रूप में स्वीकार किया है।[1] जैसा कि पूर्व में वर्णित किया गया है भावना सघन चिन्तन की प्रक्रिया है और इस सतत प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ध्यान की स्थिति का आगमन हो जाता है। इसी दृष्टि से आचार्य हरिभद्र ने भावना को ध्यान की पूर्वभूमिका माना है।[2]

भावना के विषय में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टियों की प्रस्तुति से भावनायोग के स्वरूप व उसके विभिन्न पार्श्वों को समझने का ही प्रयोजन रहा है। इस दिशा में आगमों की कतिपय दृष्टियाँ और भी सहायक सिद्ध हो सकती हैं—

—अत्यन्त वैराग्यप्रधान आत्मविचारणा ही भावना है।

—मनोबल को सुदृढ करने वाली साधना भावना है।

—चरित्र को विशुद्ध रखने वाला चिन्तन और आचरण भावना है।

—मन के विविध शुभाशुभ संकल्प भावना है।

□

---

१. अभ्यास इति वा भावनेति वा एकार्थम्। —बृहत्कल्पभाष्य, भाग २

२. पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।

—हरिभद्र : ध्यानशतक, ३०

३

भावना एक : रूप दो

शुभाशुभ

भावना तो भावना ही है—इसे प्रकारों में विभक्त करना सुगम नहीं है तथापि, भावना के दो स्वरूप स्वीकार किये जाते हैं—शुभ भावना और अशुभ भावना। इस स्वीकृति का भी अपना औचित्य है। वस्तुत, मन में भावना का डेरा रहता है। मन की प्रवृत्तियों के संसर्ग में भावना को आना ही पडता है और उनका प्रभाव भी भावना पर अनिवार्यत होता है। यदि मन की प्रवृत्तियों का स्वरूप अशुभ है तो परिणामत. भावना भी अशुभ रूप ग्रहण कर लेती है। इसके विपरीत मन की शुभ प्रवृत्तियां भावना को भी शुभ रूप प्रदान कर देती हैं। भावना का स्वरूप तो जल के समान है। जल रंगहीन होता है। शीशे के जिस रंग के पात्र में उसे भर दिया जाय, जल का वही रंग दृष्टिगत होने लग जाता है। भावना की इस विशेषता के कारण पतंजलि ने इसे ऐसी धारा के समान वर्णित किया है जो उभयोन्मुखी है—ऊपर की ओर भी गतिशील रह सकती है और नीचे की ओर भी।[1] परिणाम भी उसके स्वरूपानुसार ही होंगे।

शुभ भावना उस शीतल, मंद, सुवासित पवन के समान है जो जीवनोद्यान को सुख और सौन्दर्य से, शीतलता और सरसता से भर देती है। इसके विपरीत अशुभ भावना दुर्द्धर्ष अंधड़ के समान है जो उद्यान को तहस-नहस कर देता है, लू के समान है जो हरियाली को झुलसा देती है। यदि शुभ भावनाएं मनुष्य के साथ रहीं तो उसका जीवन सुखमय, शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील रहेगा। अशुभ भावनाओं के दुष्परिणाम दु.ख दैन्य, अशान्ति और पतन के रूप में व्यक्त होते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व—स्वरूप और व्यवहार भी भावानुसार ही ढल जाता है। प्रेम, करुणा, दया, ममता, संवेदनादि भाव जिसके मन में होते हैं—वह व्यक्ति देवतुल्य, अति सज्जन,

---

१ चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी —योगदर्शन

कोमल और भला होता है। यदि व्यक्ति के मन में हिंसा, कठोरता, ईर्ष्या, क्रोधादि अशुभ भावनाएँ होंगी तो निश्चित है कि वह व्यक्ति भी दुर्जन होगा, हिंसक, कठोर और ईर्ष्यालु होगा।

भावना ही मोक्षदा होती है और भावना ही जन्म-मरण के चक्र को निरन्तर रखते हुए व्यक्ति को मुक्ति से दूर रख सकती है। यह एक सत्य और तथ्य है कि भव-बन्धन के जो कारण हैं वे ही मुक्ति के साधन भी बन सकते हैं।[1] जो भावना राग-द्वेष, कलुष आदि विकारों से लिप्त होकर संसार-बन्धन का कारण बनती है, वही भावना विकारमुक्त अवस्था में मोक्ष-प्राप्ति का आधार भी बनती है। इस प्रकार शुभ और अशुभ—भावना के ये दो रूप मिलते हैं। शुभ भावना ही प्रशस्त भावना या असंक्लिष्ट भावना भी कही जाती है और इसी प्रकार जो अशुभ भावना है, उसे संक्लिष्ट भावना भी कहा जाता है। संक्लिष्ट भावना त्याज्य है, असंक्लिष्ट भावना ग्राह्य होती है। यही मार्ग जीवन की उन्नति व आत्मा के उत्थान के लिए सदा सुझाया जाता रहा है।

मूलतः भावना के दो भेद किये जा सकते हैं—शुभ भावना और अशुभ भावना। इन दोनों भेदों के पुनः अनेक उपभेद किये जाते हैं जो निम्नानुसार प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

अशुभ भावना : भेदोपभेद

अशुभ भावना को सामान्यतः निम्नलिखित ९ उपभेदों में विभक्त किया जाता है—

हिंसानुबंधी भावना
मृषानुबंधी भावना
स्तेयानुबंधी भावना
मैथुन संबंधी भावना
परिग्रह संबंधी भावना
क्रोधानुबंधी भावना
मानानुबंधी भावना
मायानुबंधी भावना
लोभानुबंधी भावना

उपर्युक्त अशुभ भावनाओं की सूची पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ये आस्रवों और कषायों से सम्बन्धित हैं। सूत्रात्मक रूप में इन्हें यों भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

1 जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।
ओघनिर्युक्ति ५२ आचार्य हरिभद्र

हिंसा, मृषा, स्तेय, मैथुन, क्रोध, परिग्रह, मान।
लोभ और माया-अशुभ भावना के उपभेदहि जान ॥[1]

आगम-साहित्य[2] में अशुभ भावना के ५ उपभेद वर्णित मिलते है—

कंदर्पी भावना
किल्विषिकी भावना
अभियोगी भावना
आसुरी भावना
सम्मोही भावना

इन्ही पाँच भेदो के सम्बन्ध मे यह बिन्दु भी विचारणीय है कि उत्तराध्ययन और स्थानाग सूत्र मे से प्रत्येक मे उपर्युक्त ५ मे से ४ भेदो का उल्लेख है, किन्तु इन दोनो सूचियों को समन्वित रूप दिया जाय तो सभी ५ पाँचो भेद उपलब्ध हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अशभ भावना के उपभेद है—

कंदर्पी भावना
अभियोगी भावना
किल्विषिकी भावना
आसुरी भावना

इसी प्रकार स्थानागसूत्र मे उपलब्ध सूची निम्नानुसार है—

आसुरी भावना
अभियोगी भावना
सम्मोही भावना
देव किल्विषिकी भावना

तुलनात्मक दृष्टि—

उत्तराध्ययन सूत्र	स्थानांग सूत्र
कन्दर्पी भावना	——
अभियोगी भावना	अभियोगी भावना
किल्विषिकी भावना	देव किल्विषिकी भावना
आसुरी भावना	आसुरी भावना
——	सम्मोही भावना

---

१. पाणिवह-मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति अपसत्था ॥

२. कंदप देव किब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।—बृहत्कल्पभाष्य १२९३

अशुभ भावना के भेदोपभेदों का समन्वित स्वरूप निम्नानुसार है—

कान्दर्पी अशुभ भावना —

१. कन्दर्प (१)
२. कौत्कुच्य (२)
३. द्रवशीलता (३)
४. हास्यकर (४)
५. पर-विस्मापन (५)

आभियोगी अशुभ भावना—

१. कौतुककर्म (६)
२. भूतिकर्म (७)
३. प्रश्न (८)
४. प्रश्नाप्रश्न (९)
५. निमित्त (१०)

किल्विषिकी अशुभ भावना—

१. ज्ञान का अवर्णवाद (११)
२. केवली का अवर्णवाद (१२)
३. धर्माचार्य का अवर्णवाद (१३)
४. संघ का अवर्णवाद (१४)
५. साधुओं का अवर्णवाद (१५)

आसुरी अशुभ भावना

१. अनुबद्ध विग्रह (१६)
२. संसक्ततप (१७)
३. निमित्तादेशी (१८)
४. निष्कृप (१९)
५. निरनुकम्प (२०)

सम्मोही अशुभ भावना

१. उन्मार्ग देशना (२१)
२. मार्गदूषणा (२२)
३. मार्ग विप्रतिपत्ति (२३)
४. स्वमोह (२४)
५. पर-मोह (२५)

नवक अशुभ भावना

१. हिंसा	(२६)
२. मृषा	(२७)
३. अस्तेय	(२८)
४. अब्रह्मचर्य	(२९)
५. परिग्रह	(३०)
६. क्रोध	(३१)
७. मान	(३२)
८. माया	(३३)
९. लोभ	(३४)

शुभ भावना भेदोपभेद

शुभ भावनाओं के भेदोपभेदों की एक विस्तृत शृंखला है। अशुभ भावनाओं का एक प्रभाग जैसे अव्रतों से सम्बन्धित है, वैसे ही शुभ भावनाओं का एक वृहद भाग महाव्रतों से सम्बन्धित है। इन व्रतों के अतिरिक्त ध्यानानुप्रेक्षाओं, वैराग्य भावना, योग भावना, जिनकल्प भावना और ज्ञान चतुष्क भावना के ऐसे क्षेत्र और हैं जिन से शुभ भावनाओं का सम्बन्ध है। महाव्रत ५ प्रकार के हैं और प्रत्येक से सबंधित ५-५ शुभ भावनाएं—अर्थात् २५ शुभ भावनाएं क्रमबद्ध हैं। अनुप्रेक्षा संबंधी ८, वैराग्य संबंधी १२, योग संबंधी ४, जिनकल्प संबंधी ५, और ज्ञान संबंधी ४ शुभ भावनाओं को मिलाकर कुल ५८ प्रकार की शुभ भावनाएं हैं।

पंच महाव्रत सम्बन्धी शुभ भावनाएँ

(क) अहिंसा महाव्रत—

१. ईर्या-समिति	(१)
२. मनः-समिति	(२)
३. वचन-समिति	(३)
४. एषणा-समिति	(४)
५. आदान-निक्षेपण-समिति	(५)

(ख) सत्य महाव्रत

१. अनुवीचि भाषण	(६)
२. क्षमा भावना	(७)
३. अलोभ	(८)
४. अभय	(९)
५. हास्य-मुक्ति	(१०)

(ग) अचौर्य महाव्रत—

१ विविक्तवास वसति (११)
२. अवग्रह याचन (१२)
३ शय्या समिति (१३)
४. पिण्ड पात्र लाभ समिति (१४)
५. विनय प्रयोग (१५)

(घ) ब्रह्मचर्य महाव्रत

१. असंसक्तवास वसति (१६)
२ स्त्री-कथा वर्जना (१७)
३. स्त्री-अंग-अवलोकन वर्जना (१८)
४ पूर्वभोग-स्मृति वर्जना (१९)
५. प्रणीत भोजन वर्जना (२०)

(ङ) अपरिग्रह महाव्रत

१. श्रोत्र विषय में समभाव (२१)
२. चक्षु विषय में समभाव (२२)
३. घ्राण विषय में समभाव (२३)
४. रस विषय में समभाव (२४)
५. स्पर्श विषय में समभाव (२५)

ध्यानानुप्रेक्षा संबंधी शुभ भावनाएं

(क) धर्मध्यान—

१ एकत्वानुप्रेक्षा (२६)
२ अनित्यानुप्रेक्षा (२७)
३. अशरणानुप्रेक्षा (२८)
४. संसारानुप्रेक्षा (२९)

(ख) शुक्ल ध्यान—

१. अनन्तवृत्ति अनुप्रेक्षा (३०)
२. विपरिणामानुप्रेक्षा (३१)
३. अशुभानुप्रेक्षा (६२)
४ अपायानुप्रेक्षा (३३)

वैराग्य संबंधी शुभ भावनाएं

१. अनित्य भावना (३४)
२. अशरण भावना (३५)

□

से स्वयं को बचाये रखने के लिए अशुभ की पहचान भी आवश्यक है। इस दृष्टि से अशुभ भावना का स्वरूप विवेचन दुष्प्रेरणा का स्रोत न होकर शुभ भावना को अपनाने का मार्ग सुगम ही बनायेगा।

शुभ कर्म प्रत्यक्षतः दिखायी देते हों, तब भी कर्त्ता को उसके शुभ परिणाम प्राप्त न हों—यह संभव है। यदि ऐसा घटित होता है तो माना जायगा कि उन शुभ कर्मों की भावना में कहीं कोई दोष है। या तो शुभ भावना का अभाव ही है या शुभ के स्थान पर अशुभ भावना मन में घर किये हुए है। एक ऐतिहासिक साक्ष्य इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है—

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि घोर तपस्या में लीन थे। प्रचण्ड धूप में वे मौन, अविचल खड़े आतापना ले रहे थे। तपस्यालीन राजर्षि के विषय में राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि भगवन, ये किस गति में जायेंगे? भगवान ने उत्तर दिया "प्रथम नरक....दूसरी नरक...तीसरी नरक"। यह परिणाम राजर्षि के प्रकट शुभ कर्मों से मेल नहीं खाता—यह सत्य है; किन्तु यह भी सत्य है कि परिणामों का इन बाह्य कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं। इनके पीछे जो भाव है, उनसे सम्बन्ध रहता है। तपलीन दृष्टिगत होते हुए राजर्षि की काया तो अचंचल थी, किन्तु उसके मन में विचारों का द्वन्द्व था। मन अशान्त था, राग-द्वेष सक्रिय था। अतः इन अशुभ भावनाओं का परिणाम अशुभ ही संभव है। इस मर्म को समझ लेने पर भगवान के कथन में कोई आश्चर्य शेष नहीं रह जाना चाहिए। कुछ क्षणों में राजर्षि के मनोभावों की दिशा परिवर्तित हुई। भावनाएँ अशुभ रूप त्यागकर शुभ हो गयीं और तत्काल 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हो गयी। यह भावना ही है जो शुभाशुभ परिणाम के मूल में रहा करती है।

बृहत्कल्पभाष्य में भावना के दो रूप वर्णित हैं—अप्रशस्त और प्रशस्त। ये ही क्रमशः अशुभ और शुभ भावना रूप हैं। अप्रशस्त अथवा अशुभ भाव। हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये ६ अशुभ विषय चित्त की वृत्तियों को विकृत—दूषित करते हैं। कर्म-बंधन दृढ़ करते रहते हैं, आत्मा का पतन करते हैं। इन अशुभ विषयों का चिन्तन ही अप्रशस्त अशुभ अथवा संक्लिष्ट भावना है। ये भावनाएँ जीवन को भी उद्विग्न अशान्त और अस्थिर बना देती हैं। हिंसानुबंधी भावना मन के मार्दव को मिटाकर निपट निष्ठुर और कठोर बना देती है हिंसा के मार्ग पर अग्रसर करती है। असत्य में मनुष्य अस्थिर और भयभीत हो जाता है। स्तेय भावना (चोरी) से ग्रस्त व्यक्ति प्रतिपल दूसरों को धोखा देने चोरी की नयी-नयी युक्तियाँ खोजने और उनकी क्रियान्विति में लीन रहता है। अब्रह्मचर्य मनुष्य का नैतिक पतन कर उसे स्त्रीलोलुप, दुष्कर्मी और वासना का कीड़ा बना देता है। क्रोध की भावना से मनुष्य विवेकहीन असंतुलित होकर अनुचि

मिलती भावनाएं हैं, वचन प्रयत्न और चेष्टाएं हैं - वे सभी कन्दर्पी भावना के अन्तर्गत परिगणित की जाती हैं।[1] इसी व्यवस्था के आधार पर कन्दर्पी अशुभ भावना के अनेक उपभेद स्वीकार किये गये हैं। प्रथमतः तो स्वयं कन्दर्प मूल भाव को ही लिया गया है जिसके अनेक उपभेद हैं।

(क) कन्दर्प भावना

१. **कहकह कहस्स हसण**—उपभेद के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध कहकहा लगाने अथवा अट्टहास करने से है। इस प्रकार का उग्र हास सम स्थित अशुभ भावना का परिचायक ही होता है—हर्ष का नहीं। हास जीवन के लिए अनिवार्य तो है स्वास्थ्यकारी भी वह होता है, किन्तु मन्दहास ही सज्जनोचित माना गया है। अट्टहास में स्मित में व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व में माधुर्य आकर्षण, कमनीयता और सुखप्रदता के गुण सम्मिलित हो जाते हैं। ऐसा मन्द-मधुर हास अन्यजनों के लिए भी मुस्कान और प्रसन्नता का कारण बनता है। कठोर और उग्र अट्टहास तो लोगों के दिलों को कँपा देते हैं। इसका कारण यही है कि हँसने वाले के अशुभ और अनिष्ट मन्तव्यों का संकेत उसमें मिलता है। विवेकशील मनुष्य को बहुत कम और धीमे-धीमे हँसना चाहिए। उत्तम मनुष्य आँखों ही आँखों में हँसते हैं। स्मित हास का आलोक प्रसन्नता की सूचना देते हुए आँखों में जगमगाहट फैला देता है। आचारांग का निर्देश है कि संयमी और साधक पुरुषों को सब प्रकार के हास परिहास से दूर रहकर अपनी इन्द्रियों को संयत रखना चाहिए। साधु के लिए तो ऐसा हास-परिहास सर्वथा वर्जित है।

२. **कन्दप्पो**—साधारणतः व्यक्ति अश्लील और घटिया प्रसंगों में प्रायः रस लिया करता है। ऐसे वार्तालापों में वह बड़ी रुचि के साथ सम्मिलित होता है। यदि वह ऐसी चर्चाओं में सक्रिय भाग लेने का साहस नहीं भी कर पाता, तो रुचिशील श्रोता तो बन ही जाता है। इस प्रकार अश्लील चर्चाओं द्वारा हँसना-हँसाना; मनोविनोद (तथाकथित) करना सर्वथा अनुपयुक्त है और संयम-विरोधी है। यही कन्दप्पो अथवा कन्दर्पी भावना है।

३. **अनिहुया सलावा**—इस अशुभ भावना का सीधा सम्बन्ध व्यंग्यपूर्ण वार्तालाप से है। व्यंग्य का बाण लक्षित व्यक्ति के मर्म को भेद कर इस प्रकार उत्पीड़ित कर देता है कि प्रतिक्रिया की अग्नि प्रबल उठती है। एक अशुभ भावना इस प्रकार अन्य अनेक

१. कन्दप्पे कोक्कुइए दवसीले यावि हासकरणे य।
विम्हावेंतो य परं कन्दप्पं भावणं कुणइ॥

—बृहत्कल्प : १२९४

गरिमा, शिष्टता और शालीनता जैसी कोई भी मूल्यवान बात ऐसी चेष्टाओं में झलक भी नहीं सकती। साधु के लिए तो कौत्कुच्य से बचना अनिवार्य है ही, श्रावक जन के लिए भी व्रतरक्षार्थ इनसे बचे रहना अनिवार्य है। यह अतिचार है और ऐसी वृत्ति से आचार दूषित होता है।

(ग) द्रवशीलता

कन्दर्पी भावना का यह तीसरा भेद 'दुःशीलता' के नाम से भी जाना जाता है अर्थात्—यह शील का विलोम रूप है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस अशुभ भावना के लिए इसी नाम का प्रयोग हुआ है। आचार्य जिनदास गणी के अनुसार इस अशुभ भावना के अन्तर्गत ३ लक्षणों की गणना की जाती है—

(१) जल्दी-जल्दी बोलना,

(२) जल्दी-जल्दी चलना,

(३) प्रत्येक कार्य जल्दी-जल्दी, चपलता के साथ करना।

इस प्रकार की जल्दबाजी और उतावलापन हानिकारक ही सिद्ध होता है। असावधानी उसका अनिवार्य अंग बना रहता है, परिणामतः कार्य का इच्छित स्वरूप दूर तक रह जाता है और कर्म स्वतः ही अवांछित रूप ग्रहण कर लेता है। कार्य के पीछे विचारशीलता का आधार नहीं रह पाता अतः उसका औचित्य और व्यावहारिक रूप ही खतरे में पड़ जाता है। उतावला व्यक्ति धैर्य-शून्य भी हो जाता है और तत्काल परिणाम प्राप्त करने की उसकी पिपासा जब तुष्ट नहीं हो पाती तो उसे भारी दुःख होता है। यह घोर कष्टकर दुष्परिणाम है। आवेश के व्यतीत हो जाने पर उतावले व्यक्ति को स्वयं भी अपनी दुःशीलता का अनौचित्य अनुभव होने लगता है और तब किये को अनकिया न कर पाने की विवशता के कारण वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है।

व्यक्ति का संयत और विचारपूर्ण भाषण ही श्लाघ्य है। 'तोलो—फिर बोलो'—के अनुसार शान्त वाणी में, गंभीरता के साथ, सुविचारित कथन किया जाना चाहिए। तभी अभीप्सित मन्तव्य प्रकट किया जा सकता है। उद्वेग के साथ कथित वचन अर्थ के स्थान पर अनर्थ प्रेषित कर सकते हैं और अवांछित परिणाम समक्ष आते हैं। ऐसी स्थिति में वाचक को लज्जा और पश्चात्ताप का अनुभव होने लगता है। यह असंयत प्रलाप वचन सम्बन्धी दुःशीलता है। इसका त्याग संयमीजन के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार उन्हें बोलने-चलने प्रत्येक कार्य में असंयमित त्वरा का त्याग ही करना चाहिये। स्फूर्ति का नाम जल्दबाजी नहीं हो सकता और धैर्य को शैथिल्य नहीं कहा जा सकता।

(घ) हासकर (हास्योत्पादन)

कन्दर्पी नामक अशुभ भावना का यह चौथा उपभेद 'हासकर' व्यक्ति की उन चेष्टाओं से सम्बन्धित है जिनके द्वारा वह दूसरों को हँसाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयोजन से व्यक्ति नाना प्रकार के रूप बनाता है, स्वांग भरता है, वेश-भूषाओं का प्रयोग करता है। वाचिक प्रयत्नों द्वारा भी वह यह उद्देश्य प्राप्त करना चाहता है। हास्यजनक अभिनय द्वारा भी वह हँसाने की चेष्टा कर सकता है। ऐसी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति भी कन्दर्पी भावना से ग्रस्त माना जायगा।

(च) परविस्मापन भावना

अशुभ भावना—कन्दर्पी के इस उपभेद के अन्तर्गत व्यक्ति की उन चेष्टाओं को गिना जाता है जिनके द्वारा वह दूसरों में विस्मय उत्पन्न करने का प्रयोजन रखता हो। चमत्कार प्रदर्शन, जादू (टोना), हाथ की सफाई, इन्द्रजाल आदि इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। वाचिक रचना द्वारा भी इस प्रयोजन का प्रयत्न करता है। पहेलियाँ, गूढार्थक कथन द्वारा ऐसे वाचिक प्रयत्न किये जा सकते हैं।

प्रकटतः तो ऐसा व्यक्ति श्रोता अथवा दर्शक के चित्त को आह्लादित ही कर रहा है किन्तु मूल रूप में उसकी चेष्टाएं दूषित हैं। इससे प्रवंचनापूर्ण चातुर्य प्रदर्शित करने की प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक सफलता के साथ उसका दर्प, अहंकार अधिकाधिक अभिवर्द्धित होता चला जाता है। मिथ्यात्व को प्रश्रय प्राप्त होता है और वह उत्तरोत्तर पुष्ट होता रहता है। इन अवगुणों के परिणामस्वरूप चित्त में मालिन्य और अशान्ति बनी रहती है।

परविस्मापन कन्दर्पी भावना का आचरण करने वाले श्रमण के लिए इस विकार से मुक्तिहेतु आलोचना करना अत्यावश्यक है। यदि इसके पूर्व ही उसका देहावसान हो जाय तो वह कन्दर्पी देवताओं में जन्म धारण करता है और स्वर्ग में उसे विदूषक की ही भूमिका निभानी पड़ती है।

२—अभियोगी भावना

उपभेद

अभियोगी भावना

कौतुक	भूतिकर्म	प्रश्न	प्रश्नाप्रश्न	निमित्त
(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)

यह अप्रशस्त भावना अपने नाम के अभिप्रार्थ (शब्द के लोक प्रचलित अर्थ) से भिन्नार्थ रखती है। इस दृष्टि से अभियोगी शब्द का शास्त्रीय विशेषार्थ ही यहाँ ग्राह्य है। अभियोगी का यह विशेषार्थ है—दास अथवा सेवक। आत्मा दास्य कर्म के योग्य योनि में उत्पन्न हो—इस परिणाम को देने वाली भावना—अभियोगी भावना है।

उत्तराध्ययन सूत्र में विवेचित है कि जो व्यक्ति सुख के लिए, धन-मिष्ठान्नादि रस के लिए, एवं समृद्धि के लिए मंत्र, तंत्र और भूतिकर्म का प्रयोग करता है—वह अभियोगी भावना का धारक है।[1] सामान्यतः मंत्र-तंत्र और भस्मादि कर्म का प्रयोग करना ही अभियोगी भावना का मूल लक्षण है। यदि मंत्र-तंत्र विद्या भी है, तो इसे पावन और शुचि स्वरूप की विद्या नहीं कहा जा सकता। इसके मूल में मालिन्य का ही निवास है। मंत्र अथवा तंत्र का प्रयोगकर्त्ता अन्य जन के मन को वशीभूत कर लेता है और उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर स्वेच्छानुसार व्यवहार करवाता है। वह अन्य जन अपनी इच्छा और चेतना के अनुरूप व्यवहार नहीं करता, यह उसका हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। यह बलपूर्वक किया गया, बाह्य प्रभाव मात्र है और ऐसी दशा में यह हिंसा का ही एक रूप है। हिंसा इस कारण है कि व्यक्ति इस प्रकार अन्य व्यक्ति की आत्मा को दास बनाता है। दास बनाने वाला अभियोगी भावना का चिन्तक व्यक्ति अनिवार्यतः स्वयं भी दास ही बनता है। यह अशुभ भावना वाला मरकर स्वर्ग में भी दास्य कर्म ही करता है।

इस प्रकार तांत्रिक कर्म विशेष लाभप्रद सिद्ध नहीं होता। यदि किसी अन्य जन के मन पर प्रभाव अंकित ही करना है तो वह शुभ प्रभाव होना चाहिए। यदि ऐसा शुभ प्रभाव हृदय-परिवर्तन द्वारा अंकित किया जाय तो वह श्रेयस्कर है धर्म है। इस लक्षण से हीन होने के कारण अभियोगी भावना अप्रशस्त अथवा अशुभ भावना है। अभियोगी भावना के भी अनेक उपभेद हैं।

(क) कौतुककर्म

'अभियोगी' शब्द की भाँति ही 'कौतुक' का प्रयोग भी विशेषार्थ में हुआ है। कौतुक का शाब्दिक अर्थ आश्चर्य से है, किन्तु यह अभिप्रार्थ प्रस्तुत प्रसंग में सर्वथा त्याज्य है। बच्चों व स्त्रियों की रक्षा, वशीकरण, सौभाग्य सम्पादनार्थ बिन्दी, तिल रेखादि का प्रयोग किया जाता है। कौतुक का यही शास्त्रीय, प्रासंगिक और विशिष्टार्थ है। स्नानोपरान्त काली बिन्दी का प्रयोग जब इस प्रयोजन से किया जाता है कि

---

1. मंता जोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजन्ति।
   साय रस इड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ॥ उत्तरा० ३६.२६४

होता है। वह भविष्य का पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेने को भी उत्सुक रहता है और वर्तमान की अबूझ और रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझाने के लिए भी आतुर रहता है। इस स्वाभाविक मानसिकता के परिणामस्वरूप मनुष्य प्रश्न भावना के शिकंजे में जकड़ जाता है; व्यक्ति अपने भविष्य सम्बन्धी, लाभ-हानि सम्बन्धी आदि प्रश्न देवता के समक्ष रखता है और ऐसी मान्यता है कि देवता समाधान देते हैं। अंगूठे के नाखून में, अंगूठी के नग में, जल के पात्र में, दर्पण में, तलवार आदि में देवता का प्रत्यक्ष किया जाता है। प्रश्नकर्ता स्वयं भी ऐसा आभास पाता है, जैसे वह इन माध्यमों में देवता को स्वयं देख रहा है। इस प्रक्रिया को सम्पन्न कराने वाला मध्यस्थ मात्र रहता है और वह मध्यस्थ कभी-कभी तो इस प्रकार की विद्या का अभ्यासी होता भी है और अधिकांश प्रसंगों में ये मध्यस्थ ऐसे व्यक्ति मात्र ठग होते हैं और भोले-भाले लोगों का प्रवंचन करते रहते हैं। ये लोग इस प्रकार छल-प्रपंच कर अपनी आजीविका अर्जित करते रहते हैं। जैन धर्म में इस प्रकार के व्यवहार को सर्वथा निषिद्ध स्वीकार किया गया है।

(घ) प्रश्नाप्रश्न

अभियोगी भावना के इस उपभेद में प्रश्न का दुहरा रूप होता है इस कारण इसे प्रश्नाप्रश्न कहा गया है। जिज्ञासु व्यक्ति मध्यस्थ से प्रश्न करता है। मध्यस्थ अपने इष्ट देवता अथवा देवी का ध्यान करता है। स्वप्न में इष्ट से उसका साक्षात्कार होता है और मध्यस्थ उनके समक्ष वह प्रश्न प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रश्न दो बार पूछा जाता है। मध्यस्थ इष्ट से जो उत्तर पाता है उसे सम्बन्धित प्रश्नकर्ता को प्रेषित कर देता है। कुछ मध्यस्थ कर्ण-पिशाचिनी को सिद्ध कर लेते हैं। जिज्ञासु का प्रश्न मध्यस्थ द्वारा उस देवी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और देवी उसके कान में उत्तर दे जाती है। कुछ मध्यस्थों के अंग में तथाकथित रूप में देवता प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का आचरण व व्यवहार अद्भुत और विकराल हो जाता है। वह चीखता-चिल्लाता रहता है, उछलता-कूदता रहता है और उसमें उपस्थित देवता प्रश्नों के उत्तर देते हैं। प्रश्नाप्रश्न के अन्तर्गत ये सारी प्रवृत्तियाँ अनाचरणीय हैं और श्रमण जन के लिए त्याज्य हैं।

(च) निमित्तकथन

प्रस्तुत प्रसंग में निमित्त का भावार्थ—आधार है। जब कभी किसी शास्त्र का आधार लेकर लाभालाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःखादि का कथन किया जाता है—वह निमित्त कहा जाता है।[1] अमुक शास्त्र का आधार ग्रहण किये जाने के कारण यह 'निमित्त' है। ऐसे कथनकर्ता निमित्तज्ञ अथवा नैमित्तिक कहे जाते हैं। ये निमित्तज्ञ

---

1 लाभालाभादि ज्ञान निमित्तत्वात् निमित्तमुच्यते।

भूत और भविष्य की परिस्थितियों का प्रयत्नपूर्वक ज्ञान कर लेते हैं और उनका कथन करते हैं। अमुक व्यक्ति अपने पूर्वभव अथवा भवों में क्या था, वह भविष्य में किस गति को प्राप्त करेगा आदि प्रश्नों के उत्तर निमित्त ज्ञान से दिये जा सकते हैं। इस प्रकार अमुक कार्य का परिणाम लाभ अथवा हानि होगा—जैसा भविष्य कथन भी किया जा सकता है। वैसे यह विचाराधारित प्रक्रिया है किन्तु जब किसी संकीर्ण उद्देश्य से इसे प्रयुक्त किया जाता है, यह हीन कोटि की हो जाती है। जैन-इतिहास में गोशालक का प्रसंग आता है जिसने षडंग निमित्त का गहन अध्ययन किया। अपनी अर्जित प्रतिभा का प्रयोग वह चमत्कार प्रदर्शन के उद्देश्य से करता रहा। वह इस प्रकार लोगों को चमत्कृत कर उन्हें अपने संघ में सम्मिलित करता गया और इस प्रकार संघ-विस्तार में लगा रहा। इस प्रकार के उद्देश्यों से निमित्त-प्रयोग वस्तुतः वर्जित है। शास्त्रों में निमित्त के दो वर्गीकरण मिलते हैं—

(१) स्थानांग सूत्र में निमित्त के आठ अंग निर्धारित किये गये हैं। इसे अष्टांग महानिमित्त कहा जाता है—

१. **भौम**—भूमि विषयक शुभाशुभ ज्ञान कराने वाला शास्त्र।

२. **उत्पात**—रुधिर वर्षा आदि असामान्य परिस्थितियों का फल बताने वाला शास्त्र।

३. **स्वप्न**—स्वप्नों के शुभाशुभ फलों का विवेचक शास्त्र।

४. **अन्तरिक्ष**—गन्धर्व नगर आदि का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

५. **अंग**—नेत्र आदि अंगों के फड़कने का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

६. **स्वर**—षड्ज आदि स्वरों का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

७. **लक्षण**—स्त्री-पुरुष, पशु आदि के शुभाशुभ लक्षण व उनके फल बताने वाला शास्त्र।

८. **व्यंजन**—तिल, मस आदि के शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

(२) **षडंग निमित्त**—के छः अंग निम्नानुसार हैं—

(१) सुख (२) दुःख (३) लाभ
(४) अलाभ (५) जीवन (६) मरण

निमित्त कथन द्वारा स्वभावतः ख्याति की दृष्टि से सफल है किन्तु इसके बड़े अवांछनीय परिणाम भी होते हैं। अतः साधु के लिए निमित्तकथन को निषिद्ध माना गया है। इसे आजीविका का साधन मानना तो और भी अधिक अनुचित है और इस प्रकार के श्रमणों को 'पाप श्रमण' कहा जाता है।

जैन मान्यता के अनुसार मन्त्र-तन्त्र, भूतिकर्म, ज्योतिष-निमित्त आदि सभी कर्म अनिष्टकार हैं। उनके प्रयोग में हिंसा, दंभ, अन्धविश्वास, ईर्ष्या आदि अवगुणों का प्रसार होता है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाला साधु हिंसा का भागी भी बन जाता है, वह इह और पर दोनों लोकों में दुःख का भागी होता है।

उत्तराध्ययन में उल्लेख है—जो साधु लक्षणों और स्वप्नों का शुभाशुभ फल बताता है निमित्त द्वारा भविष्य-कथन करता है, कौतूहल व स्नानादि के लिए अभिमन्त्रित जल से स्नान करवाता है, असत्य एवं आश्चर्यकारिणी विद्याओं में अथवा हिंसा आदि आचरणों में अपना जीवन बिताता है वह उनके कटुफलरूप कर्म भोगते समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

(३) किल्विषिकी भावना

किल्विष का शब्दार्थ है—नीच, घृण्य, निम्नस्तरीय। इस अप्रशस्त भावना का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि—जो ज्ञान की, केवली की, धर्माचार्यों की, धर्मसंघ की साधुओं की (इन पाँच की) निन्दा करता है, अवर्णवाद बोलता है, वह मायावी किल्विषिकी भावना का आचरण करता है। इस प्रकार इस अप्रशस्त भावना का जिस मनोवृत्ति से संबंध है वह निन्दा और कपट है। पूज्य श्रद्धेय पुरुषों की अनर्गल निन्दा करना, उनके आचरण में कपटपूर्वक दोष—त्रुटि को खोजकर उनका अवर्णवाद प्रचार करना, उनके उपदेशों का तिरस्कार करना आदि इस अप्रशस्त भावना की प्रतिक्रियाएँ हैं। यह निन्दा, यह अवर्णवाद निम्नानुसार वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) ज्ञान का अवर्णवाद

प्रस्तुत प्रसंग में ज्ञान शब्द से प्रयोजन उस श्रुत ज्ञान से है जिसका निरूपण तीर्थंकरों द्वारा आगमों के रूप में हुआ है। यही धर्म-दर्शन, चिन्तन-मनन का आधारभूत स्वरूप है। इस ज्ञान की निन्दा करना ज्ञान का अवर्णवाद है। इस अवर्णवाद की अभिव्यक्तियाँ अनेक रूपों में हो सकती हैं; यथा—आगमों में एक ही कथन बार-बार किया गया है, इससे पुनरुक्ति दोष आ गया है। शास्त्रों में कही गयी बातों का तर्क और विज्ञान से मेल नहीं बैठता आदि-आदि। ये कथन न तो सुविचारित हैं, न प्रमाणपुष्ट। सर्वज्ञ प्रभु की वाणी में इस प्रकार सन्देह करना सर्वथा अनुपयुक्त है। जिस देश-काल-वातावरण के सन्दर्भ में प्रभु की यह धारणा रही—यदि उन परिस्थितियों को सन्दर्भ न मानकर इस धारणा पर आज विचार किया जाय तो सत्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है। यही विचारहीनता है, जिसके शिकार वे मनोवृत्त हैं जो इस प्रकार का अवर्णवाद करते हैं।

करने पर साधु को रूढ़िवादी कहना, द्रव्यानुरूप परिवर्तन (यथोचित) कर लेने वाले साधु को शिथिलाचारी कह देना, उस साधु के रीति-व्यवहार की निन्दा करना, उनके आचार-विचार की निन्दा करना, उनका उपहास करना, आदि साधु का अवर्णवाद है।

आचार्य संघदास गणी द्वारा माया-कपट करने वाले (मायावी) को भी किल्बिषिकी भावना वाला बताया गया है। अपने दोषों को आवृत करना, दूसरे के गुणों को आवृत करना, दूसरे के दोषों के अन्वेषण में लगे रहना, छिप-छिपकर पापाचरण करना आदि मायावी के लक्षण है। तप की चोरी, आचार आदि की चोरी भी किल्बिषिकी भावना के अन्तर्गत मानी जाती है। स्वयं तो जो तप न करे और अन्य तपस्वी के यश का लाभ उठाना चाहे—तप की चोरी है। ऐसे छद्म जन श्रावक भक्तों की अबोधता का लाभ उठाकर स्वयं पूजित होते रहते हैं। भक्त आकर ऐसे साधु (जो स्वयं तपस्वी नहीं है) से प्रश्न करे कि आप में से एक साधु महान तपस्वी है—क्या वे तपस्वी आप ही हैं? ऐसे प्रश्न पर हां कर देना अथवा मौन रहना, अथवा ऐसा उत्तर देना कि साधु तो तपस्वी होते ही हैं आदि—कपट है। भक्त इस उत्तर से इस साधु को वास्तविक तपस्वी मानकर उसकी पूजा करने लग जाता है। यह तप की चोरी है। इसी प्रकार व्रतादि का पालन न करने पर भी अपने को व्रती के रूप में विज्ञापित करना। श्रेष्ठ आचार का न होने पर भी वैसी प्रसिद्धि करवाना आदि माया ही है। यह कपट भी किल्बिषिकी भावना का ही एक रूप है।

(४) आसुरी भावना

'आसुरी' शब्द के अभिधार्थ से भिन्न एक विशेषार्थ में ही यहाँ इस शब्द का आशय है। 'असुरो प्रवृत्ति'—आसुरी का सीधा-सीधा अर्थ होता है, पर यहाँ प्रासंगिक अर्थ क्रोध में है। क्रोधाभिभूत व्यक्ति की मानसिकता, उसका व्यवहार और गतिविधियाँ तदनुसार ही हो जाती हैं। निरन्तर क्रोध को बढ़ाते रहने वाला और निमित्त विद्या का प्रयोग करने वाला आसुरी भावना का आचरण करने वाला माना जाता है। आगमों में वर्णित आसुरी के इन दो कारणों—क्रोध और निमित्त के अतिरिक्त बृहत्कल्पभाष्य में कतिपय कारण और बताकर इस अप्रशस्त भावना के निम्नलिखित लक्षण वर्णित किये गये हैं—

(क) अनुबद्ध विग्रह (ख) संसक्ततपा (ग) निमित्तादेशी

(घ) निष्कृप (ङ) निरनुकम्प।

(क) अनुबद्ध विग्रह

जो व्यक्ति जो असहिष्णु हो, पल-पल में क्रुद्ध हो जाता हो और हर समय ही जिसके क्रुद्ध हो जाने का भय रहता हो—वह स्वयं भी अशान्त बना रहता है और अन्य जनों की अशान्ति का कारण भी। इस प्रकार पल-पल में कलह करने वाला

'पाप श्रमण' कहा जाता है। वह विग्रहशील आसुरी भावना वाला होता है। कलह करने के पश्चात् भी यदि वह इस पर पश्चात्ताप कर ले तो इस अप्रशस्त भावना का वेग कम हो जाता है, किन्तु जो कलह का पाप करके भी पश्चात्ताप न करे उसे दुहरा पाप लगता है। प्रायश्चित्त का न किया जाना इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति के मन में अब भी दुर्भावना है। आसुरी भावना वाला व्यक्ति इसी प्रकार का व्यवहार करता है। उसका क्रोध शीघ्र शान्त नहीं होता। वह तो सज्जनों का ही क्रोध होता है जो बहुत देरी से आता है और बहुत जल्दी चला जाता है। आसुरी भावना वाले व्यक्ति के दोषी होने पर भी उसके क्रोध को शान्त करने के लिए ही यदि कोई अन्य जन अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा याचना करे, तब भी न तो वह क्षमा-दान करता है और न ही अपने क्रोध को विदा होने देता है। यह आसुरी भावना का लक्षण है।

(ख) संसक्ततपा

आसक्तिपूर्वक तप करना भी आसुरी भावना का ही लक्षण है और यही संसक्ततपा है। संसक्त वह है जिसकी आसक्ति हो—आहार, [illegible] वस्त्र-पात्र पूजा-मान आदि में। ऐसा व्यक्ति यदि इन पदार्थों की वृद्धि के लिए तप करे तो उसे संसक्ततपा कहा जाता है। अगले भव के लिए, पुत्र-पौत्रादि प्राप्त करने के लिए [illegible] करना व्यर्थ है। आसक्ति [illegible] की [illegible] है

(ग) निमित्तादेशी

निमित्तादेश निमित्त आदि का कथन करना है। मान, अहंकार, क्रोध आदि के वशीभूत होकर निमित्तकथन करने वाला आसुरी भावना से युक्त माना जाता है। यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है कि अभियोगी भावना के अन्तर्गत निमित्त-कथन की जो चर्चा आयी है—वह इससे किस प्रकार भिन्न है। वस्तुतः जब आजीविका-अर्जन के उद्देश्य से निमित्त कथन किया जाता है तो वह अभियोगी भावना है। क्रोधावेश में, अहंकार तुष्टि के लिए, किसी को भयातुर और आतंकित करने के लिए किसी की हानि करने के लिए जब निमित्तादेश किया जाता है तब वह आसुरी भावना है।

(घ) निष्कृप

कृपा का प्रचलित अर्थ है—करुणा। करुणाहीन व्यक्ति निष्कृप है। [illegible] मन से [illegible] हो [illegible] का कार्य हो जाय तो सज्जनोचित व्यवहार तो यह है कि उसके मन में पश्चात्ताप का भाव उदित हो आत्मग्लानि होने [illegible] उससे यह हिंसा हो गई। किन्तु अपने व्यापक [illegible] और जो पश्चात्ताप न करे—वह निष्कृप है। [illegible] सूत्र में उल्लेख है—

"जिसके हृदय में दया व करुणा का अंश नहीं होता, वह पापी मार्ग में आये त्रस जीवों, वनस्पतिकाय आदि का मर्दन करता हुआ चलता है, जैसे उनकी आत्मा ही नहीं है उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती। ऐसा क्रूर और निष्करुण व्यक्ति पापात्मा कहा जाता है।'

(च) निरनुकम्प

अनुकम्पा का अर्थ है किसी को काँपते हुए देखकर सहानुभूति में स्वयं काँप उठना। अन्य जनों को भयंकर कष्टों में देखकर भी जो नहीं काँप उठता, द्रवित नहीं हो जाता—वह निरनुकम्प है। सज्जन तो जगत के ताप (दुख) में द्रवित हो उठते हैं। दूसरों के ताप में दुखी होना ही सज्जन का लक्षण है।

दुखी जनों का कष्ट सज्जन ही दूर करते हैं और वास्तव में ऐसा करके वे अपने ही दुःख को दूर करते हैं। अन्य जन के दुःख में सज्जन भी दुखी होता है और अन्य जन के दुःख के दूर होने के साथ साथ उसका दुःख भी दूर हो जाता है। यह अनुकम्पा है। अनुकम्पा को सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अनुकम्पाहीन आचरण वाला व्यक्ति आसुरी भावनायुक्त माना जाता है।

(५) सम्मोही भावना

मोह का तीव्र रूप ही सम्मोह है। मनुष्य जब तक मोह से घिरा रहता है—उसकी अज्ञान-पथ से मुक्ति नहीं होती। सम्मोह से घिरा व्यक्ति विवेकहीन, ज्ञानहीन होता है।

सम्मोही भावना के भी ५ लक्षण हैं—

(क) उन्मार्गदेशना (ख) मार्गदूषणा (ग) मार्ग-विप्रतिपत्ति
(घ) स्वमोह (च) पर-मोहना

(क) उन्मार्गदेशना

मार्ग के विपरीत देशना देना—उन्मार्गदेशना है। मार्ग से अर्थ है मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचाने वाला ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूपी मार्ग। यही तो गंतव्य तक पहुँचाने वाला पथ है। इस मार्ग के अनुसरण से च्युत करने की प्रेरणा देना उन्मार्ग देशना है। इस मोक्षमार्ग की उपेक्षा कर जो इसके विपरीत प्ररूपणा करता है, वह इस अप्रशस्त भावना का व्यक्ति माना जाता है।

ज्ञान की निन्दा करना किल्विषिकी भावना के अन्तर्गत भी एक उपभेद के रूप में वर्णित हुआ है। अन्तर यही है कि किल्विषिकी के अन्तर्गत ज्ञान को तुच्छ बताकर उसका तिरस्कार किया जाता है, निन्दा की जाती है और उन्मार्गदेशना में ज्ञान की उपेक्षा की जाती है उसके विपरीत प्ररूपणा की जाती है। जब इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ज्ञान से कोई लाभ नहीं। ज्ञानी लोग व्यर्थ की चिन्ताओं से त्रस्त और दुखी रहते हैं। अज्ञानीजन निश्चिन्त और सुखी रहते हैं,

'पाप श्रमण' कहा जाता है। वह विग्रहशील आसुरी भावना वाला होता है। कलह करने के पश्चात् भी यदि वह उस पर पश्चात्ताप कर ले तो इस अप्रशस्त भावना का वेग कम हो जाता है, किन्तु जो कलह का पाप करके भी पश्चात्ताप न करे उसे दुहरा पाप लगता है। प्रायश्चित्त का न किया जाना इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति के मन मे अब भी दुर्भावना है। आसुरी भावना वाला व्यक्ति इसी प्रकार का व्यवहार करता है। उसका क्रोध शीघ्र शान्त नही होता। वह तो सज्जनों का ही क्रोध होता है जो बहुत देरी से आता है और बहुत जल्दी चला जाता है। आसुरी भावना वाले व्यक्ति के दोषी होने पर भी उसके क्रोध को शान्त करने के लिए ही यदि कोई अन्य जन अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा याचना करे, तब भी न तो वह क्षमा-दान करता है और न ही अपने क्रोध को विदा होने देता है। यह आसुरी भावना का लक्षण है।

(ख) संसक्ततपा

आसक्तिपूर्वक तप करना भी आसुरी भावना का ही लक्षण है और यही संसक्ततपा है। ससक्त वह है जिसकी आसक्ति हो—आहार, उपधि, वस्त्र-पात्र, पूजा-यश आदि मे। ऐसा व्यक्ति यदि इन पदार्थों की वृद्धि के लिए तप करे तो वह ससक्ततपा कहा जाता है। अपने यश के लिए, पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए तप करना व्यर्थ है। आसक्ति स्वयं पाप की मूल है।

(ग) निमित्तादेशी

निमित्तादेश निमित्त आदि का कथन करता है। मान, अहंकार, क्रोध आदि के वशीभूत होकर निमित्तकथन करने वाला आसुरी भावना से ग्रस्त माना जाता है। यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है कि अभियोगी भावना के अन्तर्गत निमित्त-कथन की जो चर्चा आयी है—वह इससे किस प्रकार भिन्न है। वस्तुत. जब आजीविका-अर्जन के प्रयोजन से निमित्त कथन किया जाता है तो वह अभियोगी भावना है। क्रोधावेश में, अहंकार तृप्ति के लिए, किसी को भयातुर और आतंकित करने के लिए, किसी की हानि करने के लिए जब निमित्तादेश किया जाता है तब वह आसुरी भावना है।

(घ) निष्कृप

कृपा का प्रासंगिक अर्थ है—करुणा। करुणाहीन व्यक्ति निष्कृप है। निरुद्देश्य रूप मे जीवहिंसा हो जाय या परपीडन का कार्य हो जाय तो सज्जनोचित व्यवहार तो यह है कि उसके मन मे प्रायश्चित्त का भाव उदित हो, आत्मग्लानि होने लगे कि अनवधान व्यवहार के कारण मुझसे यह हिंसा हो गयी। यही अपने व्यापक अर्थ मे करुणा है। हिंसा का पाप करके भी जो पश्चात्ताप न करे—वह निष्कृप है।

सूत्र मे उल्लेख है

"जिसके हृदय में दया व करुणा का अंश नहीं होता, वह पापी मार्ग में आये त्रस जीवों, वनस्पतिकाय आदि का मर्दन करता हुआ चलता है, जैसे उनकी आत्मा ही नहीं है, उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती। ऐसा क्रूर और निष्करुण व्यक्ति पापात्मा कहा जाता है।"

(च) निरनुकम्प

अनुकम्पा का अर्थ है किसी को काँपते हुए देखकर सहानुभूति में स्वयं काँप उठना। अन्य जनों को भयंकर कष्टों में देखकर भी जो नहीं काँप उठता, द्रवित नहीं हो जाता—वह निरनुकम्प है। सन्तजन तो जगत के ताप (दुःख) से द्रवित हो उठते हैं। दूसरों के कष्ट में दुखी होना ही सन्त का लक्षण है।

दुखी जनों का कष्ट सज्जन ही दूर करते हैं और वास्तव में ऐसा करके वे अपने ही दुःख को दूर करते हैं। अन्य जन के दुःख में सज्जन भी दुखी होता है और अन्य जन के दुःख के दूर होने के साथ-साथ उसका दुःख भी दूर हो जाता है। यह अनुकम्पा है। अनुकम्पा को सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अनुकम्पाहीन आचरण वाला व्यक्ति आसुरी भावनायुक्त माना जाता है।

(५) सम्मोही भावना

मोह का तीव्र रूप ही सम्मोह है। मनुष्य जब तक मोह में घिरा रहता है—उसकी अज्ञान-पंक से मुक्ति नहीं होती। सम्मोह से घिरा व्यक्ति विवेकहीन, ज्ञानहीन होता है।

सम्मोही भावना के भी ५ लक्षण हैं—

(क) उन्मार्गदेशना (ख) मार्गदूषणा (ग) मार्ग-विप्रतिपत्ति
(घ) स्वमोह (च) पर-मोहता

(क) उन्मार्गदेशना

मार्ग से विपरीत देशना देना—उन्मार्गदेशना है। मार्ग से अर्थ है मोक्ष के गंतव्य तक पहुँचाने वाला ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूपी मार्ग। यही तो गंतव्य तक पहुँचाने वाला पथ है। इस मार्ग के अनुसरण से च्युत करने की प्रेरणा देना उन्मार्ग देशना है। इस मोक्षमार्ग की उपेक्षा कर जो इसके विपरीत प्ररूपणा करता है, वह इस अप्रशस्त भावना का व्यक्ति माना जाता है।

ज्ञान की निन्दा करना किल्विषिकी भावना के अन्तर्गत भी एक उपभेद के रूप में वर्णित हुआ है। अन्तर यही है कि किल्विषिकी के अन्तर्गत ज्ञान को तुच्छ बताकर उसका तिरस्कार किया जाता है, निन्दा की जाती है और उन्मार्गदेशना में ज्ञान की उपेक्षा की जाती है, उसके विपरीत प्ररूपणा की जाती है। जब इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ज्ञान से कोई लाभ नहीं। ज्ञानी लोग व्यर्थ की चिन्ताओं से ग्रस्त और दुखी रहते हैं निश्चिन्त और सुखी रहते हैं

मस्त रहते है। इस प्रकार ज्ञान की महत्ता का खण्डन कर अज्ञान की महत्ता स्थिर करना उन्मार्गदेशना है। मोहाधीन व्यक्ति ही ऐसी प्ररूपणा करता है, अतः उन्मार्ग-देशना सम्मोही भावना है।

(ख) मार्गदूषणा

"तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥"

सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग ही सत्य है। जिन-वचन संशयरहित है। जब इस प्रकार की मान्यता को निरस्त कर कोई व्यक्ति स्वकल्पित अन्य मोक्ष-मार्ग की प्ररूपणा करे, ज्ञानहीन होकर भी स्वयं को बहुश्रुत और ज्ञानवान के रूप मे प्रतिष्ठित कर जब कोई जिन-मार्ग की निन्दा करे, उसे दूषित बतावे और अन्य मार्ग की प्रस्थापना करे तो यह मार्गदूषणा है। उदाहरणार्थ, शास्त्रो मे मोक्षार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का मार्ग सुझाया गया है। कुतर्की लोग कह सकते है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान ही पर्याप्त है, अन्य साधनों के चक्कर मे पड़ना व्यर्थ है। इस प्रकार एकांगी वचन द्वारा सामान्यजन को दिग्भ्रमित करना मार्गदूषणा है। इसके अन्तर्गत पूर्ण मार्ग का अपलाप करना आवश्यक नहीं है। मार्ग के केवल एक अंश पर बल देते हुए शेष की उपेक्षा की जाती है।

(ग) मार्ग-विप्रतिपत्ति

सन्मार्ग को मिथ्या तर्क-वितर्क द्वारा दूषित करना और आंशिक रूप से मार्ग देशना करना मार्ग विप्रतिपत्ति है। शास्त्रो के गम्भीर ज्ञान से रहित व्यक्ति सिद्धान्तों की प्रतिपादन शैली से अनभिज्ञ होता है, वह मर्म तक पहुँचने की क्षमता नही रखता। ऐसा व्यक्ति शास्त्रों की व्यवस्था को ऊपर-ऊपर से देखकर कुछ समझ नहीं पाता और अनपेक्षित प्ररूपणा करने लग जाता है। यही मार्ग विप्रतिपत्ति है।

(घ) स्व-मोह

अस्पष्ट और असंतुलित मानस का व्यक्ति शंकादि के कारण सिद्धान्त-वचनो के मोह मे पड़ जाता है। कभी एक अर्थ को उपयुक्त बताता है, तो कभी अन्याशय को। यह अनिर्णय और अनिश्चय की अवस्था स्वमोह है।

(च) पर-मोह

व्यक्ति स्वयं ज्ञानवान हो, सन्मार्ग क्या है और उन्मार्ग क्या—इसकी सुस्पष्ट पहचान उसे हो फिर भी जान-बूझकर जो अन्यजनो को उन्मार्ग का उपदेश देता है तो कहा जायगा कि उसमें पर-मोह है। अपनी बात को ऊँची रखने के लिए भी कभी-कभी व्यक्ति ऐसा कर सकता है। वह इस प्रकार दूसरों को भ्रम मे डाल देता है इस प्रकार के से सम्यक्त्व की हानि होती है जिसके दुर्गति होती है अत इसे निषिद्ध भावना माना गया है

५

फल : अशुभ भावनाओं के

प्रत्येक कार्य के पीछे उसका कारण होता है। बिना मेघो के वर्षा संभव नही है और धुआँ है तो उसके कारण-स्वरूप अग्नि की उपस्थिति भी आवश्यकीय है। इसी प्रकार कारण की उपस्थिति कार्य के होने की संभावना बनाती है। भावना कारण है, जिसका कार्यरूप फल अनिवार्य रूप मे प्राप्त होता है। भावना कभी निष्फल नही रहती और यह फल भी भावना का रूपानुसारी होता है। शुभ भावना के शुभ फल होंगे और अशुभ फल ही अशुभ भावना से प्राप्त होंगे। अशुभ भावनाओं से शुभ फलो की प्राप्ति की कामना कभी पूर्ण नही हो सकती—

बोये पेड़ बबूल के फिर आम कहाँ से खाय।

आम्रवृक्ष रोपित करके ही आम्रफल चखा जा सकता है। बबूल बोकर काँटो से बच पाना भी कहाँ तक संभव है। कोई चाहे कि आम न मिलें तो न सही, काँटे भी न मिलें—तो यह भी संभव नही होगा। फल तो मिलेगा और अवश्य मिलेगा। उसे टाला नही जा सकता।

इत्र की सुगन्ध बड़ी सुखद होती है, भीनी-भीनी होती है। दुर्गन्ध बड़ी अप्रिय होती है। एक कोने मे इत्रदान खोलिये, कमरे भर मे फैलने मे भी सुगन्ध काफी समय ले लेती है। दुर्गन्धित पदार्थ अपनी दुर्गन्ध से लम्बे-चौड़े क्षेत्र को पल भर मे दूषित कर देता है। भावना के साथ भी कुछ ऐसा ही है। शुभ भावना के फल अविलम्ब प्राप्त नही होते, किन्तु अशुभ भावनाओ के दुष्परिणाम प्रगट होने में अधिक समय नही लगता। आम्रवृक्ष कितने वर्षों बाद फल देना आरंभ करता है, पर बबूल के काँटे शीघ्र ही आ जाते हैं।

यह भी अनिवार्य है कि हृदय को शुभ भावनाओं से सज्जित करने से पूर्व उसमे से अशुभ भावनाओं को निकाल बाहर किया जाना चाहिए। श्वेत वस्त्र को नीलिमायुक्त करने से पूर्व उसकी मलिनता का दूर किया जाना अनिवार्य है स्वच्छ ताजा जल से पूरित करने से पूर्व कलश को पुराने-बासी जल से रिक्त किया

ही जाता है। अशुभ भावनाओं को हटाये बिना मन को शुभ भावनाओं से प्रभावित नहीं किया जा सकता। यह सर्वथा सत्य है कि शुभ भावनाओं से मन और जीवन को साधित करने के लिए प्रथम चरण यही होना चाहिये कि सावधानीपूर्वक अशुभ भावों से बचने का प्रयत्न किया जाय। व्यक्ति कितना ही सयाना हो, काजल की कोठरी में जब जाता है तो कालिख तो लगेगी ही।

पिछले पृष्ठों में अशुभ भावनाओं का विवेचन हुआ है और वहाँ संबंधित स्थलों पर इस प्रकार के उल्लेख भी हुए हैं कि इस अशुभ भावना वालों को किल्विषिक देवयोनि अथवा अभियोगी देवयोनि प्राप्त होती है। यहाँ सामान्यतः यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ये चाहे हीन कोटियों की ही हों पर देवयोनियाँ तो हैं ही, अर्थात् अशुभ भावना वालों को स्वर्गलाभ तो हो ही गया। फिर अशुभ भावना का फल अशुभ कहाँ हुआ? सामान्य पाठकों में इस प्रकार की भ्रान्ति का हो जाना स्वाभाविक ही है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि अशुभ भावनाओं की ये परिणामात्मक अवस्थाएँ साधुवर्ग को लक्षित कर वर्णित की गयी हैं। पञ्चमहाव्रतधारी श्रमण भी यदि छद्मस्थ आराधक होता है, श्रमण जीवन में दोष लगाता है, अप्रशस्त भावना का सेवन करता है तो उसकी शुभ भावना के कारण उसे स्वर्गलाभ तो होता है, किन्तु उसे हीन कोटि की देव गति ही प्राप्त होती है। शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार इस अवस्था को 'अशुभ जाति', 'नीच गति' या 'दुर्गति' कहा जाता है। तपस्यादि के सुपरिणामस्वरूप उसे देवगति का लाभ भी होता है और अशुभ भावनाओं के सेवन के कारण उसके साथ दुर्गति का योग भी हो जाता है। यह तथ्य आचार्य संघदास गणी के कथन से भी पुष्ट हो जाता है—

"जो साधु होकर भी, संयती होकर भी इन अशुभ भावनाओं का आचरण करता है, वह उन भावनाओं के अनुरूप उसी प्रकार की जाति में जाता है, अर्थात् अभियोगी भावना वाला आभियोगिक देव गति, किल्विषिकी भावना वाला किल्विषिकी देव गति प्राप्त करता है।"[1]

प्रचंड शुभ भावों के साथ रंच मात्र सी अशुभ भावना का योग भी दुष्परिणाम दिये बिना नहीं रहता। देवयोनि प्राप्त करके भी साधक को हीनत्व प्राप्त होता है, तो जो मानवयोनि को ही पुनः ग्रहण करते हैं उनकी अधमगति तो सर्वथा असंदिग्ध ही है। तिर्यंच और नरकगति में भी उन्हें अशुभतर वर्ग ही प्राप्त होते हैं।

---

१ जो संजओ वि एआसु, अप्प सत्थासु भावण कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइयो चरणहीणो

भाष्य गाथा १२१४

अशुभ भावना का अशुभ फल किसी प्रवचना, किसी युक्ति से टाला नहीं जा सकता। वे अशुभ फल तो प्रत्येक अवस्था में मनुष्य को भोगने ही पड़ते हैं। सत्ता और शक्ति, प्रभुत्व और ऐश्वर्य तप और साधना कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। ये अशुभ फल तो आगामी जन्म में भी पीछा नहीं छोड़ते। प्रायः अनेक फल तो अपना अनिष्टकारी प्रभाव इसी जीवन में दिखा देते हैं। अपनी अशुभ और अप्रशस्त भावना के कारण मनुष्य का पतन हो जाता है, अनेक प्रकार के दुःखों में घिर जाता है। जो क्रोधी है वह भीतर ही भीतर जलता-भुनता रहता है, जीवित ही चिता पर आरूढ रहता है। जो निष्कृप है, निष्ठुर है, हिंसक है—वह जगत में किसी की संवेदना, स्नेह-सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सकता। दर्प के कारण मनुष्य दूसरों पर आतंक भले ही स्थापित कर ले, किन्तु वह भी शेष समाज से कटकर अलग हो जाता है। अशुभ भावनाएं मनुष्य को सम्मानजनक जीवन नहीं जीने देती। प्रतिष्ठाहीन जीवन तो मृत्यु से भी घटिया होता है और उसके पल्ले जीवन का यही रूप पड़ता है। सुख, सम्मान, प्रतिष्ठा, लोकप्रियता को लक्ष्य मानने वाले व्यक्ति अशुभ भावनाओं से दूर रहें—यह आवश्यक है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि अशुभ भावनाएँ और अशुभ आचरण भले ही तात्कालिक रूप में भले, प्रिय और सुखद प्रतीत होते हों, किन्तु उनके दूरगामी परिणाम सदैव अमंगलकारी होते हैं। अस्तु इनके मोहक जाल से व्यक्ति को विवेकपूर्वक बचना चाहिये। विवेक का यथार्थ उपयोग ही इसी में है कि शुभाशुभ का निर्णय कर वह शुभ को वरेण्य और अशुभ को त्याज्य स्वीकार करने में समर्थ हो सके। क्षणिक, अयथार्थ सुख के लोभ में जो अनन्त सुख को तिलांजलि देने को तत्पर हो जाय, वह व्यक्ति और तो कुछ भी कहा जा सकता है, किन्तु विवेकशील और विचारशील नहीं कहा जा सकता है।

अशुभ भावनाओं के स्वरूप को समझना भी उतना ही आवश्यक है जितना शुभ भावना को पहचान करना। अशुभ भावनाओं से आत्मरक्षा तो शुभ भावनाओं के सेवन की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि अशुभ से सर्वथा वंचित रहे बिना किसी के द्वारा शुभ का पूर्णतः अपनाया जाना संभव नहीं हो सकता। अशुभ के रहते हुए शुभ के परिणाम भी मन्द और हततेज रहते हैं। अशुभ को पहले हटाने की आवश्यकता है, और तब शुभ की स्थापना की जानी चाहिये। इन सभी परिस्थितियों में यह अनिवार्य हो जाता है कि व्यक्ति स्वयं को अशुभ से रक्षित रखे—यह उसका शत्रु है। शत्रु को पहचाने बिना उसकी घात से बचना कैसे संभव है। शुभ भावनाएं तो मित्रवत् हैं, वे हितैषी की भूमिका का निर्वाह तो करेंगी, किन्तु ये मित्र भी शत्रु से बचाने का काम नहीं करेंगी। इस निमित्त तो स्वयं व्यक्ति को ही सतर्कतापूर्वक सचेष्ट रहना होगा। अशुभ भावनाओं से बचकर, शुभ भावनाओं का सेवन करने में ही मनुष्य मात्र का हित निहित है और साधु वर्ग के लिए तो यह अत्यन्त अनिवार्य है। □

६

शुभ भावनाओं के विषय में

शुभ और अशुभ, सज्जन और दुर्जन—मनुष्य-समाज सदा ही इन दो वर्गों में विभक्त रहा है। कौन किस वर्ग में है—इसका निर्णय मनुष्य के कर्मों से, आचरण से, व्यवहार से किया जाता है। प्रकटत. मनुष्य के कर्म ही हम देख पाते है, किन्तु इन कर्मों के पीछे उसकी प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। शुभ प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सदाचारी होगा और अशुभ प्रवृत्तियाँ मनुष्य को दुर्जनता के मार्ग पर अग्रसर करती हैं। मानव-मन की भावनाएँ उसकी प्रवृत्तियो पर नियंत्रण रखती है। शुभ भावनाएँ शुभ प्रवृत्तियो को जन्म देती है और अशुभ भावनाएँ दुष्प्रवृत्तियो की कारण बनती हैं। इस प्रकार मनुष्य का शुभाशुभ व्यक्तित्व उसकी भावनाओ पर ही आधारित है।

मनसा, वाचा, कर्मणा इन तीन माध्यमो से मनुष्य की प्रवृत्तियो का द्योतन होता है। शब्दान्तर के साथ कहा जा सकता है कि मन, वचन और कर्म मनुष्य की प्रवृत्तियो के स्रोत हैं। भावना ही इन स्रोतों को शुभाशुभ दिशाओ की ओर मोड़ देती है और तदनुरूप ही जीवन का गतव्य स्थिर हो जाता है, नियति निश्चित हो जाती है। शुभ भावनाएँ मांगलिक सस्कारो को पनपा कर परिपुष्ट कर देती है और यह शक्ति साधक को संयत जीवन-क्रम की समर्थता प्रदान करती है। अस्तु, शुभ भावनाओं की अति गम्भीर और महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अशुभ भावनाओ के दुष्परिणामो से अवगत होकर हमें इन अप्रशस्त भावनाओ से सदा बचे रहना चाहिये। इसी प्रयोजन से पिछले अध्यायो मे अशुभ भावनाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया। किन्तु विचारणीय यह है कि क्या अशुभ भावनाओं से बचना मात्र शुभ परिणाम प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। नही""कदापि नही। बबूल न बोने से कॉटो का जाल नही मिलेगा, किन्तु आम भी नही मिल सकते। आम का आनन्द तो आम्र वृक्ष उगाने और उसे पनपाने से ही मिलेगा। अत अशुभ से बचने के साथ-साथ

शुभ भावनाओं का सेवन आवश्यक है—शुभ फलों की प्राप्ति के लिए। अशुभ का तो केवल परित्याग करना है, किन्तु शुभ भावनाओं का वरण भी तो आवश्यक है। आगामी अध्यायों का प्रतिपाद्य इन प्रशस्त भावनाओं का विवेचन ही है। यही सद्गति-दायक सन्मार्ग है, यही जैनधर्मसम्मत आदर्श आचरण का मूल है, यही मानव जीवनोद्देश्य की प्राप्ति का सूत्र है।

शुभ भावना का अध्ययन निम्नांकित विभाजन के साथ व्यवस्थित रूप में किया जा सकता है—

(१) पंच महाव्रत भावनाएं—(चारित्र भावना) (२) वैराग्य भावना (३) योग भावना (४) जिनकल्प भावना और (५) ज्ञानचतुष्क भावना।

७

पंच महाव्रत भावनाएँ

चारित्र भावना का जो साधक परिपालन कर पाता ।
जन्म-मरण का चक्र सदा के लिए स्थगित हो जाता ।।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह–ये पाँच शील ही 'पच महाव्रत' के नाम से जाने जाते है । ये महाव्रत मात्र व्रत के रूप मे हमारे द्वारा महत्त्व प्राप्त करते रहे–यही पर्याप्त नही है । ये हमारे आचरण और मानसिक व्यक्तित्व के अभिन्न अग बने—यह परमावश्यक है । मनसा, वाचा, कर्मणा इनका परिपालन अनिवार्य है तभी चारित्र का शुभ पक्ष रक्षित रह सकता है और इनसे सुसस्कारो पनपाया जा सकता है । ये ऐसी शुभ भावनाएँ है जिनसे असयम स्वतः दूर हो जाता है और जीवन संयत होकर व्यक्ति को शुभ मार्ग पर अग्रसर करने मे सक्षम हो जाता है । ये पंच महाव्रत ऐसे शील है जिनके पालन से शुभ भावनाओं का उदय होता है और इनकी अवमानना ही अशुभ भावनाओ को जन्म देती है ।

इन पच महाव्रतो की रक्षा के लिए पाँच-पाँच भावनाओ का विधान है । ये शुभ भावनाएँ असंयम और कुसंस्कारो से महाव्रतो की रक्षा करती है । प्रत्येक महाव्रत-रत्न की रक्षा के लिए भावना रूपी पाँच रक्षक नियुक्त किये गये है । यदि ये प्रहरी सावधान रहेंगे तो असयम रूपी चोर साधक के आचरण-कोप से इन रत्नो की चोरी नही कर सकेगा । महाव्रतो की भावनाओ का विवरण सामने अंकित है—

पंच महाव्रत

अहिंसा	सत्य	अचौर्य	ब्रह्मचर्य	अपरिग्रह
ईर्यासमिति भावना	अनुवीचि भाषण	विविक्तवास वसति	असंसक्तवास	श्रोत्र विषय में समभाव
मन समिति भावना	क्षमा भावना	अवग्रह याचन	स्त्रीकथावर्जना	चक्षु " "
वचनसमिति भावना	अलोभ	शय्या समिति	स्त्रीअंगअवलोकनवर्जना	घ्राण " "
एषणासमिति भावना	अभय	पिण्ड पात्र त्याग समिति	पूर्वभोग स्मृतिवर्जना	रस " "
आदाननिक्षेपण समिति भावना	हास्य मुक्ति	विनय प्रयोग	प्रणीत भोजनवर्जना	स्पर्श " "

८
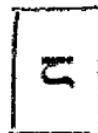
अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

हिंसा है—मन-वच-कर्म से परतन-मन को
पीड़ा देना—यों हर हिंसक दानव है।
और अहिंसा-भाव मिटा देता दानवता
इसका साधक ही बस सच्चा मानव है॥

अहिसा महाव्रत अकेला ही मनुष्य को मनुष्यता से सम्पन्न करने के लिए एक पर्याप्त साधन है। 'अहिंसा' नकारात्मक शब्द है जिसमे हिसा का निषेध है। यह हिसा अपने-आप मे एक व्यापक क्षेत्र का विषय है। किसी प्राणी का घात करना तो हिंसा है ही, किन्तु हिंसा इसके अतिरिक्त अपना सूक्ष्म रूप भी रखती है। मन, वचन अथवा कर्म से किसी को कष्ट पहुंचाना हिंसा है। मानसिक ठेस पहुंचाना भी हिंसा है। वचन से हिंसा इसी प्रकार की हुआ करती है। प्रत्यक्ष रूप से हमारा कोई कार्य अथवा वचन तो ऐसा नही है कि जो किसी के लिए कष्टकर हो, किन्तु किसी को पीड़ा पहुंचाने वाला विचार भी हमारे मन में आया है तो यह एक प्रकार की हिंसा है। सर्व प्रकार की हिंसा से बचना ही अहिंसा है। श्रमण के लिए तो यह सर्वोपरि महाव्रत है। अहिंसा का दूसरा पक्ष भी महत्वपूर्ण है। दूसरो के लिए अमगलकारी कार्य न करना तो अहिंसा है ही, साथ ही मगलकारी कार्य करना भी अहिंसा का ही एक रूप है। अहिंसा की इस विराट् भावना को ही पॉच समितियो मे विभक्त किया गया है।

(क) ईर्या समिति भावना

अपने सीमित अर्थ मे ईर्या का आशय गमनागमन से है। वास्तव मे साधु की समग्र चर्या ही ईर्या की विषय-सीमा के अन्तर्गत आ जाती है। मात्र गमनागमन ही नहीं, अपितु सोना, बैठना, हाथ-पैर हिलाना, देखना आदि सभी प्रवृत्तियाँ ईर्या के साथ ही जुड़ी हुई है। इन्द्रियो की बाह्य चेष्टाए चर्या है। वाणी, ऑख आदि की कोई चेष्टा ऐसी नही होनी चाहिए जो अन्य प्राणियो मे भय, आतक आदि उत्पन्न करे। **यही ईर्या समिति का मूल भाव है**

किसी चर्या में प्रवृत्त होने के पूर्व भली-भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए कि हमारी अमुक चेष्टा से किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं होगा। हमारे उठने-बैठने, चलने-फिरने अथवा हिलने-डुलने से कोई जीव (चाहे छोटा ही क्यों न हो) मरे नहीं—यह सतर्कता बरती जानी चाहिए। प्राणी का मरना ही नहीं, अपितु उसका भयाक्रान्त हो जाना अथवा सन्त्रस्त होना भी हमारी इस प्रकार की असतर्कता का ही सूचक होगा। ईर्या समिति भावना तो इसकी प्रेरणा भी देती है कि यदि हमें कोई प्राणी कष्टित और आतंकित दिखायी दे जाय तो उसकी उपेक्षा कर निकल जाना उपयुक्त नहीं है, अपितु उसे भय और कष्ट से मुक्त करने की चेष्टा भी की जानी चाहिए। यही करुणा का सक्रिय और यथार्थ स्वरूप है।

ईर्यासमिति का मूल स्तम्भ है—चिन्तन और प्रयोग। किसी भी चर्या में प्रवृत्त होने के पूर्व हमें भली-भाँति चिन्तन कर लेना चाहिए कि अमुक चर्या से मेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि संभावित है अथवा उससे हानि आशंकित है। यदि हानि की आशंका हो तो ऐसी चर्या में प्रवृत्त नहीं होना ही श्रेयस्कर है। हमारी चर्या इस प्रकार सुचिन्तित रूप में होनी चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि होने की संभावना जब हमारे चिन्तन से पुष्ट होती हो तो प्रवृत्ति के समय पुनः ईर्या समिति की भावना का प्रयोग वांछित है। उदाहरणार्थ, गमन की प्रवृत्ति का प्रसंग हो तो हमें सोचना चाहिए कि हम उत्पथ को छोड़कर सीधे मार्ग पर ही चलेंगे। उत्पथ पर गमन करने में चारित्र के क्लेश उत्पन्न हो सकते हैं, लोक में उपहास भी हो सकता है। गमन के समय अहिंसा-पालन का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। चरण आगे बढ़ाने के पूर्व पूर्ण सतर्कता के साथ यह निरीक्षण कर लिया जाना चाहिए कि मार्ग में कोई जीवादि तो नहीं है। अस्तु, सावधानीपूर्वक मंथर गति से चलना अपेक्षित है। स्वाभाविक ही है कि गमन के समय हमारी दृष्टि मार्ग पर लगी रहे, अतः कहा गया है कि दृष्टि नीचे रहनी चाहिए। हमारा ध्यान गमन पर ही पूर्णतः केन्द्रित रहना चाहिए। अन्य प्रसंगों पर चर्चा आदि में लगना उपयुक्त नहीं। चर्चा आवश्यक हो जाय तो उन पलों में चरण रोक लेना ही उपयुक्त है। गमन और स्वाध्याय अथवा चिन्तन—इन दोनों का एक साथ होना भी वर्जित है। ईर्या समिति भावना का निरन्तर सेवन करते रहने से इस प्रकार की सतर्कता व्यक्ति के संस्कारों का अंग बन जाती है और ऐसी अवस्था में वह इसका दृढ़ अभ्यासी हो जाता है। फिर उसे इस हेतु विशेष प्रयत्न नहीं करने पड़ते। वह जब चलेगा—इसी प्रकार चलेगा।

ईर्यासमिति का फल—ईर्यासमिति भावना के चिन्तन एवं प्रयोग से साधक का जीवन अहिंसामय हो जाता है। इस प्रशस्त भावना के निरन्तर सेवन से आत्मा

अहिंसा से संस्कारित हो जाती है और २१ शबल दोषों से मुक्त हो जाती है। साधक पूर्ण अहिंसक बनकर ऐसा सयमी बन जाता है जिसके लिए मोक्ष पद सर्वथा सभाव्य हो जाता है।

(ख) मनःसमिति भावना

मन को सम्यक् चर्चा मे प्रवृत्त करना ही मनःसमिति भावना है। अहिंसा महाव्रत का यह द्वितीय पार्श्व है जो 'मनोगुप्ति' का पूरक स्वरूप है। मनोगुप्ति का अर्थ है मन को अशुभ भावना से रहित करना और मनःसम्मिति की भूमिका है—मन को शुभ भावना मे प्रवृत्त करना। अशुभ से मुक्ति के बिना शुभ के प्रवेश का कोई अर्थ ही नही है। मनोगुप्ति इस प्रकार मन समिति की पूर्व भूमिका है और इसी के आधार पर मन समिति के साफल्य की कल्पना की जा सकती है। स्थानांग सूत्र के अनुसार—"सम्यग्योग मे प्रवृत्ति करना समिति है और मन की कुशल प्रवृत्ति को मन समिति कहा जाता है।"[1]

मन समिति भावना स्वरूप चिन्तनाधारित है। मन मे अनेकानेक विचार तरगें उठती रहती है। मन की यह सहज प्रवृत्ति है। हमे चाहिए कि इन मे से प्रत्येक विचार को यो ही प्रश्रय न दे। उसका भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण आवश्यक है। हम विचार के सम्बन्ध मे चिन्तन करे कि मन का यह विचार शुभ हे अथवा अशुभ, पापमय है या पुण्यमय, मन के लिए यह शुचिकर है या अपवित्रकारी। इस विचार के कारण मै कही किसी जीव के लिए कष्ट, पीडा, घात, बन्धन का कारण तो नही बन जाऊँगा। चिन्तन की इस कसौटी पर जो विचार अनिष्टकारी सिद्ध हों—उन्हे त्याज्य माना जाय और केवल शुभ को ग्रहण किया जाय। ऐसी ही प्रशस्त भावनाओ से मन को साधित किया जाय। यह मन.समिति भावना का सच्चा स्वरूप है।

साधक के लिए आवश्यक है कि कर्मो के साथ-साथ उसका मन भी शुद्ध हो। मन की शुद्धता मनःसमिति से ही संभव है। यह मति की शुद्धता अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण इस कारण भी है कि मति की शुद्धता ही शुद्ध गति या शुभ कर्मों की प्रेरणा देती है। हिंसा का उदय प्रथमत विचार-रूप में मन में होता है, क्रिया रूप मे परिणति बाद का विषय है। अत अशुभ विचारो के मन मे प्रवेश पर प्रभावकारी रोक अत्यावश्यक है। अन्यथा अशुभ प्रवृत्तियों मे रत होकर मन सारी साधना पर पानी फेर देता है और मानव-मन स्वभाववश ही अशुभ की ओर अग्रसर होने

---

१. सम्यग् इतिः प्रवृत्तिः समिति । मनः कुशलतायां समिति ।

का ध्यान न रखता है उस पर मुद्दत राग का प्रभाव रहता है। एक भी अशुभ विचार भी समस्त चारित्र को कलुषित करने के लिए पर्याप्त है। घास के विशाल ढेर को भस्म कर देने के लिए एक चिनगारी ही पूरी क्षमता रखती है—अग्निपुंज की आवश्यकता नहीं।

मन समिति को इस दृष्टि से एक सावधान द्वारपाल कहा जा सकता है जो मन में प्रवेश करने से पूर्व भावनाओं की परीक्षा कर लेता है और अशुभ भावनाओं को लौटा देता है। केवल शुभभावनाएं ही प्रवेश प्राप्त कर सकती हैं। आचारांग सूत्र में कथित है—"जो इस प्रकार अपने मन को संयम से भावित रखता है और अशुभ विचारों से दूर रखता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है।"[1] अशुभ भावनाओं से प्रभावित मन पतन का कारण बनता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध सबल हो जाता है और आत्मा चारित्र और सम्यक्त्व से च्युत हो जाती है। शुभ विचारों के निरन्तर चिन्तन से ऐसा संस्कार स्थापित कर लेना चाहिए कि अशुभ विचार मन में आएँ ही नहीं। यह मनसमिति भावना है।

(ग) वचनसमिति भावना

वचनसमिति साधक को अपनी वाणी के सम्बन्ध में चिन्तन की प्रेरणा देती है। हमें वचन-प्रयोग से पूर्व यह चिन्तन करना चाहिए कि मेरी वाणी कर्कश, कठोर, किसी के मन को पीड़ा पहुँचाने वाली, हिंसाकारी, सावद्य—पापकारी तो नहीं है। हमें इस दिशा में सदा सतर्क रहना चाहिए कि हमारी वाणी को हम दूषित न होने दें। वाणी को विकृत करने वाले आठ दोष निम्नानुसार हैं—

(१) क्रोध	(२) मान	(३) माया	(४) लोभ
(५) हास्य	(६) भय	(७) वाचालता	(८) विकथा

हमारा संकल्प होना चाहिए कि हम इन दोषों से सर्वथा मुक्त ऐसी ही वाणी का सदा प्रयोग करेंगे जो मधुर हो, परिमित हो और परहितकारी हो। वाणी तो चाकू की भाँति है जिसका सदुपयोग अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान करता है, किन्तु इसी का दुरुपयोग घातक और पीड़ाजनक भी हो जाता है। चाकू का घाव तो चिकित्सा और समय-यापन से भर सकता है, किन्तु वाणी का घाव कभी नहीं भरता और व्यक्ति इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर स्थापित कर लेता है।

अविचार और अविवेक के साथ अहंकार अथवा क्रोधादि के आवेश में यदि अशुभ वाणी का प्रयोग हो जाय तो उस कथन को 'अनकहा' नहीं बनाया जा सकता। प्रयोगोपरान्त तो निष्फल पछतावा ही शेष रह जाता है। अशुभ और कटु

---

१. मण परिजाणइ से निग्गंथे। —आचारांग : श्रु० २ अध्ययन १५

वचनो का प्रभाव दूरगामी और स्थायी हो जाता है। अत अमगलकारी वचनो से सदा सप्रयास बचना चाहिये। कटुवचनो का दुखद प्रभाव श्रोता पर तो होता ही है स्वय कथनकर्त्ता के मन मे भी भावहिंसा का उदय हो जाता है, मन पापमय हो जाता है। आचाराग मे उल्लेख है कि उपयुक्त वचन-विधि का ज्ञाता ही सच्चा निर्ग्रंथ है।[1]

वचन समिति भावना द्वारा साधक निरन्तर चिन्तन करता है और वाणी को मधुर, जनहितकारी और पुण्यशीला बनाये रखता है। इस निरन्तर चिन्तन से उसमे ऐसे संस्कार स्थापित हो जाते है कि उसकी वाणी कभी अनुपयुक्त और अमंगलकारी रूप ले ही नही पाती। अनायास भी जब कभी कोई वचन उसके मुख से निकले तो वह शुभ ही होता है।

(घ) एषणा समिति भावना

धर्म ही आत्मा का ध्येय है। इस धर्म का आधार शरीर और शरीर का आधार भौतिक सामग्री—आहारादि है। शरीर के लिए वस्त्रादि भी अपेक्षित रहते है। हिंसादि का सहारा न लेते हुए इस सामग्री की प्राप्ति निर्दोष विधि से करना—एषणा समिति है। आहारादि ग्रहण करते समय भी साधु को विवेक से काम लेना पड़ता है। जो भी प्राप्त हो रहा है और जैसे भी प्राप्त हो रहा है—उसे ग्रहण कर लेना साधु के लिए उपयुक्त नहीं है। भिक्षा उसी स्थिति मे ग्रहण करने योग्य होती है जब वह सर्वप्रकार से मर्यादा के अनुकूल हो। साधु की याचना में दैन्य का स्वर भी सम्मिलित नही होना चाहिये। शास्त्रो में निर्धारित दोषो से मुक्त सर्वथा निर्दोष भिक्षा ही ग्राह्य होती है। तत्सम्बन्धी चिन्तन ही एषणा समिति है। इस चिन्तन के तीन प्रारम्भिक आधार होते है—(क) शुद्ध भिक्षाचर्या कैसे करे, निर्दोष आहार कैसे प्राप्त करे? (ख) भिक्षा मे प्राप्त आहार कैसे करें? और (ग) आहार क्यो और कैसे किया जाय?

साधक भिक्षाचर्या द्वारा अनेक परिवारो से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही आहार ग्रहण करे। भिक्षार्थ चयनित परिवारो मे छोटे-बड़े घर जैसा भेदभाव न करे, आत्म-परिचय प्रस्तुत न करे। प्रत्येक परिवार से अल्पमात्रा मे ही आहार ग्रहण करे जो साधक की आवश्यकता के अनुरूप हो—यह अत्यावश्यक है। प्राप्त आहार का सेवन अनासक्त भाव से, और शरीर को धर्म के आधार रूप मे प्रयुक्त होने योग्य बनाये रखने के प्रयोजन से किया जाना चाहिए। भिक्षाचर्या के साथ मधुकरी वृत्ति अथवा गोचरी वृत्ति का संयुक्त होना भी अत्यावश्यक है। गाय घास को जड़ से उखाड़ कर सारी की सारी नही चर जाती। ऊपर-ऊपर से चरती हुई आगे चलती रहती है। घास के अनेक पौधो से वह थोड़ा-थोड़ा सा लेती है। इससे उसका उदर-पोषण भी

---

१ वई परिजाणइ से निग्गथे — आचा श्रु० २ १५

हो जाता है और घास की हानि भी नही होती। साधु भी इसी प्रकार भिक्षा ग्रहण करे—यह आवश्यक है। अनेक परिवारो से अल्प-अल्प मात्रा मे आहार ग्रहण करने के पीछे यही धारणा है कि किसी भी परिवार पर कोई भार न आए और उसको कष्ट न हो। भिक्षाचर्या की यही वृत्ति मधुकरी के नाम से भी जानी जाती है। मधुकर अथवा भ्रमर फूलो का रसपान तो करता है, किन्तु अपनी रस सम्बन्धी आवश्यकता को वह किसी एक ही पुष्प मे पूर्ण नही कर लेता। वह अनेक पुष्पो से थोडा-थोडा रस ग्रहण करता है। इससे मधुकर भी तुष्ट हो जाता है और किसी भी पुष्प को कोई कष्ट नही होता, वह नीरस नहीं हो जाता। भिक्षाचर्या मे इसी वृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित है।

साधु के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह भिक्षार्थ किसी गृहस्थ के यहाँ जब जाए तो 'अज्ञातचारी' बनकर ही जाय। उसे अपने वर्तमान और विगत जीवन का परिचय नही देना चाहिए, यथा—मै ऐसा साधक अथवा इतना विद्वान हूँ आदि, अथवा मैं अमुक प्रतिष्ठित एव वैभवसम्पन्न सज्जन का पुत्र हूँ, अथवा अमुक से मेरा अमुक नाता है आदि। यदि वह परिचय देता है तो इसका प्रयोजन यह लक्षित होता है कि इस प्रकार वह गृहस्थ को प्रभावित कर अधिक अथवा अच्छा आहार देने के लिए प्रेरित करता है। यह आकाक्षा है जो अनासक्ति को नष्ट कर देती है और भिक्षा को शुद्ध नही रहने देती। इसी प्रकार यदि गृहस्थ अनुदारता दिखावे, उपेक्षा बरते, आनाकानी करे तो इस प्रसग पर साधु के मन मे खिन्नता, अवसाद या खेद उत्पन्न नही होना चाहिए और न ही गृहस्थ के प्रति साधु के मन मे कोई कुभाव आना चाहिए, उसकी किसी चेष्टा से समाज मे ऐसे गृहस्थ के प्रति अपयश न फैले—इस सम्बन्ध मे साधु को विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। दाता के समक्ष साधु द्वारा दैन्य भी प्रकट नहीं किया जाना चाहिए। इससे जिनशासन की गरिमा घटती है, साधुवृन्द के प्रति सहजश्रद्धा का भी अवमूल्यन होता है। भिक्षा मिलने पर प्रसन्न हो जाना और न मिलने पर खिन्न हो जाना—साधु का यह स्वभाव भी नही होना चाहिए। दशवैकालिक मे कथन है कि भिक्षा न मिलने पर साधु शोक न करे, यही सोचे कि यह भी अच्छा ही हुआ कि आज मुझे तप करने का अवसर सहज ही मे सुलभ हो गया।[1] आहार प्राप्त हो जाने पर भी साधु के मन मे अपने प्रभाव, पुण्य आदि को इस साफल्य का आधार मानते हुए गर्व अथवा गौरव का भाव नही आना चाहिए। दोनों ही स्थितियों मे सन्तुष्ट एव प्रसन्न रहते हुए मुनि पिण्डचर्या करे।[2] भिक्षाचर्या का एक ही लक्ष्य साधु के मन मे स्पष्ट और सुपुष्ट रहना चाहिये कि

---

१ अलाभुत्ति न सोइज्जा तवुत्ति अहियासए। —दशवैकालिक ५।२।६

२ सतुटठ पिंडवाय चरे मुणी न ३५ १६

सयम जीवन के निर्वाहार्थ ही मुझे यह देह धारण किये रखना है। यह देह सुख के लिए नही, अपितु मोक्ष की साधना के लिए है।[1]

इस प्रकार शुद्ध निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उसका उपयोग कैसे किया जाय ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। भिक्षा-प्राप्ति के अनन्तर साधु के लिए यह क्रम होना चाहिये—

—सर्वप्रथम उसे गुरुजनो के समक्ष उपस्थित होकर गमनागमन मे यदि कोई दोष लगा हो तो उसकी आलोचना करनी चाहिए।

—फिर सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर शुभ ध्यान करना चाहिए।

—भोजन के प्रति आसक्ति का भाव मन मे न आने दे। भोजन के पूर्व साधु के मन मे शुभ और पवित्र सकल्प आने चाहिए।

—साधु का मन वात्सल्य एव विनय भावना मे भावित हो जाना चाहिए और उसे अन्य साधुओ को आहारार्थ निमन्त्रण देना चाहिए।

—यदि कोई उसका आमत्रण स्वीकार कर ले तो उसके साथ प्रसन्न मन से आहार करना चाहिए।

—यदि कोई स्वीकार न करे तो उसे अकेले ही ऐसे स्थान पर बैठकर यतना-पूर्वक आहार कर लेना चाहिए, जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, जहाँ जीवादि की प्रतिलेखना की जा सके।

—भोजन के समय भी सुस्वादु भोज्य के लिए लिए मन मे आकर्षण का भाव न आने दे और न ही अपेक्षाकृत कम स्वादु भोज्य के लिए निन्दा का भाव आने दे।

—अल्प मात्रा मे ही आहार करे और ग्रासैषणा के निम्नांकित पाँच दोषो का परिहार करे—

(१) **संयोगदोष**—स्वादलोलुपतावश एक भोज्य मे अन्य भोज्य का सम्मिश्रण करना।

(२) **प्रमाणदोष**—साधु के आहार का निश्चित प्रमाण निर्धारित है। उससे अधिक प्रमाण मे आहार करना।

(३) **धूमदोष**—उत्तम आहार न मिलने पर दाता अथवा सामग्री की निन्दा करना। इस से चरित्र धुएँ की तरह कलुषित हो जाता है।

(४) **अगारदोष**—उत्तम, स्वादिष्ट आहार मिल जाने पर दाता अथवा सामग्री की प्रशसा करना। इससे साधना अगार की तरह जलकर भस्म हो जाती है।

(५) **कारणदोष**—शास्त्रोक्त आहार करने के ६ कारणो मे से किसी के भी न होने पर भी आहार करना। ये कारण है—(१) भूख की वेदना मिटाने के लिए

१ **मोक्खसाहण हेउस्स साहू देहस्स धारणा** ५ ६२

(२) गुरुजनो की सेवा करने के लिए (३) ईर्या समिति के शुद्ध पालन के लिए (४) संयम क्रियाओं के शुद्ध निर्वाह के लिए (५) प्राण धारण किये रखने के लिए (६) धर्म-चिन्तन करने के लिए ।

संयम की प्रवृत्तियों के सुसम्पादन के लिए, संयम का भार वहन करने के लिए और प्राणों को टिकाए रखने के लिए ही साधु आहार करता है ।[1]

(ख) आदान निक्षेपण समिति

साधु चर्या के अनुरूप कतिपय उपकरणादि अपेक्षित रहते है । इन उपकरणो को ग्रहण करना आदान है और इनको अपने पास बनाए रखना निक्षेपण है । यह आदान और निक्षेप दोनो ही इस प्रकार के होने चाहिये कि जिनसे अहिंसा भावना का पूर्णत निर्वाह हो सके । तदर्थ विवेकपूर्वक आदान-निक्षेपण होना अनिवार्य है । यही आदान-निक्षेपण समिति भावना है । उपकरणो का सतर्कता के साथ रख-रखाव न होने पर अनेक प्रकार के कीट आदि जीवो के उनमे बस जाने की आशंका रहती है । उपकरण को उनसे मुक्त करने मे जीवहिंसा होती है, जीवो को त्रास तो होता ही है । मलमूत्र विसर्जन हेतु स्थान आदि के चयन मे भी किसी को कष्ट न हो—इसका ध्यान रखा जाना चाहिये और इस प्रकार की सतर्कता भी अपेक्षित है कि किसी प्रकार के जीवादि उत्पन्न नही हो ।

आहार आदि की अपेक्षा शरीर धारण करने मात्र के लिए है, सुख या रस प्राप्ति के लिए नही, उसी प्रकार उपकरणादि की अपेक्षा संयम निर्वाह में सुविधा के प्रयोजन मे है, शोभावर्धक अलंकरण के रूप मे नही । उपकरण-निक्षेपण का प्रयोजन ही सयम-वृद्धि है । इन उपकरणो का आकर्षक या सुन्दर होना सर्वथा अपेक्षित नही है और न ही इनके सौन्दर्य वृद्धि के प्रयत्न । आवश्यकता मात्र इस बात की है कि इनका रख-रखाव सुचारु रूप मे हो कि जीवादि को इन मे आश्रय नही मिले और उपकरण द्वारा उसका जो प्रयोजन है वह पूरा होता रह सके ।

अहिंसा महाव्रत विषयक भावनाओं की भूमिका

पंच महाव्रत विषयक वर्णित पाँच भावनाओं की व्यवस्था इस विशिष्ट प्रयोजन के लिए की गयी है कि साधु इन भावनाओ पर निरन्तर चिन्तन करते हुए अपने चारित्र का अहिंसा पक्ष प्रबलतर बना सके । यह भावनायोग अतीत कर्मों की निर्जरा मे सक्षम रहता है, और आगत कर्मों संवर होता रहता है । साधु के लिए तो इन भावनाओं का पारगामी प्रभाव होता ही है, इनका परिपालन भी अनिवार्य होता है श्रावक के लिए भी ये भावनाएँ शुभफलदायिनी होती है । ☐

१ स माया निमित्त, पाण

९

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

विश्व हित में—जो जैसा है वैसा ही कहना।
सत्य है—कथन-करनी मे भेद न रहना॥

'सत्य' शब्द अत्यन्त प्रचलित और सुगम भी है और इसके अर्थ का प्रस्तुतीकरण उतना ही दुष्कर भी है। तथापि इसके भेदो को समझकर सत्य के समग्र स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। प्राय सत्य का प्रयोग तीन अर्थो मे किया जाता है—

(१) तत्व के अर्थ मे (२) तथ्य के अर्थ मे (३) वृत्ति-प्रवृत्ति एवं व्यवहार के अर्थ मे।

सत्य : तत्व के अर्थ में

सत्य का एक अर्थ तत्व रूप मे है। तत्व का अर्थ है—वस्तु का साधारण गुण, सहज धर्म। उदाहरणार्थ— जल की तरलता, अग्नि की उष्णता, पत्थर की कठोरता इन वस्तुओ का सत्य है। वस्तुओ की इस प्रकार की विशेषता को हृदयंगम कर लेना भी सत्य साक्षात्कार का एक रूप है। यहाँ सत्य तत्व रूप मे है। वस्तु का साराश, निचोड अथवा रहस्य तत्व है। वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप मे देख लेना तत्वरूप मे सत्य है। वस्तु का यह सहज धर्म सार्वकालिक होता है, अत. कहा जाता है—"जिसका अर्थ तीनो कालो मे है वह सत्य है, वही सत्य है।"[1]

सत्य : तथ्य के अर्थ मे

तत्व के अर्थ मे जो सत्य है, वस्तु के उस सत्य को देख लेने के अनन्तर उसी रूप मे उसे विश्वहितानुरूप प्रकट करना— सत्य का तथ्य स्वरूप है। मन ने सत्य का साक्षात्कार किया और उसी के अनुरूप वाणी द्वारा व्यक्त किया—तो यह मन और वाणी की अनुरूपता हुई— यही सत्य है। सत्य का यह वाचिक रूप तथ्य के अर्थ में सत्य है।

१ कालत्रये तिष्ठतीति यद् तदेव सत्यम्।

भगवान महावीर के अनुसार—'सत्य वह है जो सद्भूत अर्थ वाला है, परस्पर विरोधी नही है तथा यथार्थ मधुर है"।[1]

सत्य : वृत्ति-प्रवृत्ति के अर्थ में

वाणी मे जैसा कथन करे, वैसे ही क्रिया द्वारा आचरण करे यह वृत्ति-प्रवृत्ति अथवा व्यवहार के अर्थ मे सत्य है। सत्य का क्रियात्मक रूप ही वस्तुतः गरिमावर्धक, चारित्र-सुधारक एवं यथार्थ फलदायी है। मात्र वाणी द्वारा यह कथन करना कि 'मैं अहिंसक हूँ', अपर्याप्त है। कथन के अनुरूप उसका आचरण भी हो, तभी व्यक्ति अहिंसक होगा। यही व्यावहारिक सत्य है। सत्यवादीजन अपना जीवन भी बाजी पर लगा देते है और इस व्यावहारिक सत्य का पालन करते है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा गया है—"जैसा कहा है वैसा क्रिया द्वारा साकार करना सत्य है"।[2]

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

(क) अनुविचित्य समिति भावना
(ख) क्रोधनिग्रह रूप क्षमा भावना (क्रोध-त्याग)
(ग) लोभविजय रूप निर्लोभ भावना (लोभ-त्याग)
(घ) भय-मुक्ति रूप धैर्ययुक्त अभय भावना (भय-त्याग)
(च) हास्यमुक्ति वचन-संयम भावना (हास्य-त्याग)

सत्य के समग्र स्वरूप के विभिन्न पक्ष ही उपर्युक्त भावना समूह मे व्यक्त हो जाते है। सत्याराधना के मार्ग मे बाधास्वरूप जो कारण बनते हैं—इन भावनाओं का चिन्तन उन कारणों के उन्मूलन की प्रेरणा देता है।

(क) अनुविचित्य समिति भावना

मैं सत्यवादी हूँ—इस आशय के कथन मात्र से कोई सत्याराधक नही हो जाता। मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन इस प्रयोजन मे अत्यावश्यक है। उसका समग्र जीवन ही सत्य-रंजित हो जाना चाहिये। इसके लिए सत्य के विभिन्न पक्षो का चिन्तन-अनुचिन्तन अत्यावश्यक है। इसी से सत्य उसके संस्कार और व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनता है। चिन्तन की यह मानसिक प्रवृत्ति ही अनुविचित्य भावना है। चिन्तन के क्षेत्र मे सत्य के अनेक पक्ष उभरते हैं।

पहला पक्ष तो यही है कि सत्य जीवन के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। असत्य से उत्थान होता है—ऐसी भ्रान्त धारणाओं को निरस्त करना और सत्य की महत्ता को अंगीकार करना। क्षुधातुर व्यक्ति सत्य को छिपाकर मिथ्या कथन करे कि मुझे भूख नहीं, या रोगी चिकित्सक से अपनी वेदना छिपाये तो औषध का दुःख दूर नहीं

---

१ भूयत्थं, अत्थतो अविसंवादी जहत्थ मधुर। —प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, २
२ सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ।

होता—समस्या का समाधान नहीं होता। सत्य की गरिमा पर चिन्तन करते रहना चाहिये। दूसरा पक्ष है सत्य के शत्रु तत्वों पर चिन्तन करना और उनसे बचने को प्रेरित होना। शास्त्रों मे सत्य के शत्रुओं की संख्या पाँच बतायी गयी हैं—

(i) अलीक वचन
(ii) पिशुन वचन
(iii) कठोर वचन
(iv) कटु वचन
(v) चपल वचन

(i) **अलीक वचन** से अर्थ है—असत्य कथन। यह असत्य-भाषण जान-बूझ कर किया जाता है। महान को तुच्छ और नगण्य को महान बताना, जो बात नहीं है उसका मनगढत रूप से लगाकर होना बताना आदि इसी प्रकार के असत्य है। अपनी महत्ता अथवा दूसरो की तुच्छता सिद्ध करने के लिए भी ऐसा असत्य कथन किया जाता है। किसी विषय से आग्रहविशेष होने पर भी व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार करता है—यह उसके मन के मोह का प्रतीक है। धन, कीर्ति आदि के लोभ-वश भी कभी इस प्रकार का आचरण किया जाता है।

(ii) **पिशुन वचन**—सामान्यत. इसे 'चुगली' कहा जाता है। चुगली से कर्त्ता और विषय दोनो की हानि होती है। चुगली करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति नारद जैसी हो जाती है। वह इधर-उधर की भिड़ाकर कलह कराने मे रुचिशील हो जाता है। इस प्रवृत्ति से व्यक्ति, परिवार, समाज, देश आदि किसी का भी लाभ संभव नहीं है। सत्याराधना के लिए पिशुन की प्रवृत्ति से मन को रक्षित रखना अनिवार्य है। यह सत्य का विनाश करती है।

(iii) **कठोर वचन**—कठोर भाषण की प्रवृत्ति मनुष्य की भयंकर शत्रु होती है। वह अप्रिय होकर समाज से कट जाता है, एकाकी रह जाता है। ऐसे व्यक्ति को आदर भी प्राप्त नहीं होता। वह दूसरो के मन को ठेस पहुँचाकर हिंसा भी करता है।

(iv) **कटु वचन**—कोई बात चाहे कितनी ही हितकर क्यो न हो, यदि वह अप्रियता और कटुता के साथ कही जाय तो उसका प्रभाव नहीं हो पाता। क्या बात कही जा रही है, इसकी अपेक्षा इस बात का अधिक महत्व है कि वह किस प्रकार कही जा रही है। वचन-माधुर्य सत्य के महत्व को बढा देता है और इसके विपरीत कटुता सत्य को धूमिल कर देती है। सत्य इससे अप्रिय और अग्राह्य हो जाता है।

(v) **चपल वचन** चंचल और व्यग्र मानस अस्थिर होता है वह किसी एक बात पर नहीं टिक पाता दृढ़ता के स्थान पर डगमगाहट रहती है पल-पल

परिवर्तित बात में कोई विश्वास नहीं करता और ऐसे व्यक्ति की कोई प्रतिष्ठा नहीं रह जाती। यह चापल्य व्यक्ति को सत्य-च्युत कर देता है।

'वाणी को इन दोषों से मैं कभी दूषित न होने दूंगा क्योंकि ऐसी वाणी यथार्थ सत्य का वहन नहीं करती'—इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन व्यक्ति की सत्याराधना को सशक्त बनाता है। यही अनुविचित्य समिति भावना है।

(ख) क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना

सत्य मनुष्य के लिए वरदान है, अत्यन्त हितैषी है। सत्य से व्यक्ति का आभ्यन्तर निर्मल और बाह्य निष्कपट हो जाता है। वह एक अनुपम ज्योति में जगमगा उठता है और सर्वप्रिय बन जाता है। धैर्य, संतोष, शील आदि सत्य के सहयोगी मित्र हैं और मिथ्या, कठोर-कटु-चपल वचन, लोभ, क्रोधादि इसके शत्रु हैं, जो इसे पनपने नहीं देते।

अस्तु, सत्य के विकासार्थ क्रोध का वर्जन है। यथार्थ ही क्रोध मनुष्य को अधीर और विचार-शून्य बना देता है। तब उससे व्यवहार में सत्य के निर्वाह की आशा कैसे की जा सकती है। मन-वांछित वस्तु या वातावरण की अप्राप्ति क्रोध के लिए मूल कारण है। मनोनुकूल व्यवहार न मिलना भी प्रतिकूल वातावरण का ही एक भाग है। इस प्रकार की परिस्थितियाँ व्यक्ति को उत्तेजित कर देती हैं और उसका क्रोध भड़क उठता है। क्षमा की प्रवृत्ति इस क्रोध पर नियन्त्रण करने में सफल हो सकती है। मनुष्य यदि अप्रिय वस्तुओं के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखे तो उसका क्रोध नियन्त्रित हो सकता है। क्रुद्ध व्यक्ति स्वयं अपने ही वश में नहीं रह पाता। उसकी गतिविधियाँ स्वतः संचालित होती रहती हैं और उसे कुछ भान नहीं रहता कि वह क्या कर या कर रहा है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक प्रकार का अनौचित्य आशंकित रहता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है—"क्रोधी मनुष्य झूठ बोलता है, चुगली करता है, कठोर वचन बोलता है, वैर, कलह और विकथा-विवाद को बढ़ाता है तथा सत्य, शील व विनय का नाश कर डालता है।[1]

क्रुद्ध व्यक्ति के विवेकरहित अनेक कृत्य हो सकते हैं। वह मिथ्या दोषारोपण करता है, अपशब्दों का उच्चारण करता है, छोटे-बड़े, अपने-पराये का ध्यान नहीं रख पाता, शिष्टाचार से च्युत हो जाता है, आक्रमण करता है। क्रोधाभिभूत व्यक्ति अनेकशः सत्य महाव्रत की हानि करता है।

क्रोध जैसे घातक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक को उपेक्षा व

---

१ अलियं पिसुणं फरुसं भणेज्जा
कलहं वेरं विकहं करेज्जा
सच्चं सीलं विणयं हणेज्जा , २

क्षमा भावना को बलवती बनाना चाहिये। उसे अप्रिय बचनों को सुनकर भी उत्तेजित न होने का अभ्यास करना चाहिये। क्रोध उससे दूर रहेगा। ऐसी किसी भी परिस्थिति की प्रतिक्रिया उत्पन्न नही होने देनी चाहिये। यह क्षमा भावना से ही सभावित हो सकता है। मन मे सदा यह संकल्प दृढ रखना चाहिये कि मुझे कभी भी क्रोध का सेवन नही करना है। क्षमा के द्वारा भावित रखकर मन को सदा प्रसन्न और स्वस्थ रखना है—

कोहो न सेवियव्वो······ खतीए भाविओ भवति ···· ।

(ग) निर्लोभ भावना

सत्याराधना के लिए लोभ से मन को रक्षित करना भी अत्यावश्यक है। यह निर्लोभ भावना है। क्रोध और लोभ में कतिपय समानताएँ भी है और अन्तर भी। क्रोध और लोभ दोनो ही विवेक-तेज को मन्द कर देते है। क्रोध द्वेषात्मक भाव है तो लोभ रागात्मक। किसी वस्तु के प्रति ललक, उसे प्राप्त कर लेने की व्यग्रता ही लोभ है। यह मन की, उस वस्तु के प्रति रागात्मक भावना का ही परिणाम है। अपने लोभ की तुष्टि के लिए व्यक्ति कुछ भी करने को तत्पर हो जाता है। वह अपने मान-सम्मान प्रतिष्ठादि का भी कुछ ध्यान नही रख पाता, अपनी मर्यादा को भी विस्मृत कर देता है। लुब्धजन तुष्टि के प्रयास मे आगत सकटो को भी नही देख पाते—जैसे दूध के लोभ मे बिल्ली सामने रखी लाठी भी नही देख पाती। लोभ की छाया मात्र से ही व्यक्ति अंधा हो जाता है। जिसे जिस वस्तु के प्रति लोभ है वह उसे प्राप्त कर लेने को कटिबद्ध रहता है और तस्करी, जादू-टोना, टोटका, जन्तर-मन्तर किसी भी मार्ग को अपनाने को तत्पर रहता है, हत्या भी उसके लिए अकरणीय कृत्य नही रह जाता। आतक जमाकर अन्यजन की सम्पत्ति को हथिया लेना तो साधारण बात है।

लोभ भौतिक साधन सुविधाओं—पात्र, कम्बल, वस्त्रादि का भी हो सकता है और परिवार, कीर्ति, प्रतिष्ठादि का भी। साधुजनो का परिवार है अनुयायी श्रावक-श्राविका-समुदाय—इसकी वृद्धि की कामना भी एक लोभ है। ख्याति, यश और सम्मान प्राप्ति की भावना भी लोभ ही है। सत्याराधना के मार्ग मे ये भावनाएँ और इनकी पूर्ति की दिशा मे किये गये कार्य बाधक होते हैं। सत्य महाव्रत के आराधक लोभ से आत्म रक्षा के प्रयत्नो को सर्वोपरि महत्ता देते हैं।

लोभ से मन को अप्रभावित रखने के लिए यह दृष्टिकोण अपेक्षित है कि ये भौतिक साधन, धन, सम्पत्ति ऐश्वर्यादि सब क्षणिक छलना मात्र है। सदा-सदा ही किसी का इन पर स्वामित्व नही रहता। इनके प्रति लोभ का भाव मनुष्य को सत्याचरण से च्युत कर देता है, उसकी आत्मा की स्वाभाविक शान्ति समाप्त हो जाती है और संतोष ही सर्वसुखों का स्रोत है इस आशय का चिन्तन-अनुचिन्तन मन म

वैरक्ति का भाव जगाता है और तृष्णा व लोभ मर्यादित होने लगता है। लोभ के संस्कारो को इस प्रकार दमित करने से मन निर्लोभिता की विशिष्टता मे दमक उठता है और सांसारिक सम्पत्ति और वैभव तृणवत् प्रतीत होने लगते है।

(घ) भयवर्जनरूप धैर्ययुक्त अभय भावना

लोभ कितना ही घातक और अहितकारी हो पर है वह एक ऐसी प्रवृत्ति जो तत्काल तो सुखानुभूति कराती ही है, चाहे वह मात्र सुखाभास ही क्यो न हो। इसके विपरीत भय प्रत्यक्षत ही उत्पीडक और दुखद परिस्थिति का नाम है। इस प्रकार लोभ यदि मधुर विष है तो भय कडवा विष है। भय मन को आतंकित, उद्विग्न, चचल और सत्रस्त कर देता है। आत्मरक्षा की चिन्ता उसे ग्रस्त करने लगती है। **'किं करोमि, क्व गच्छामि'**—क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? जैसे प्रश्नो से ही मन प्रतिध्वनित होता रहता है। व्यक्ति कर्त्तव्य-विमूढ सा हो जाता है। मेरा क्या होगा? मेरे वैभव का क्या होगा? जैसे प्रश्न भी मानव मन को भीतावस्था मे रखते है। भय के मुख्यत दो रूप होते है—इहलौकिक भय और पारलौकिक भय। इहलौकिक भय के विषय रहते है—व्याधि, रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु, अपयश, दारिद्र्य, राजदण्ड, सामाजिक अप्रतिष्ठा आदि। पारलौकिक भय के विषय इस प्रकार के होते है—मरणोपरान्त मेरा क्या होगा? सद्गति मिलेगी अथवा नहीं? आदि। कभी-कभी मनुष्य वायवीय रूप मे ही भयभीत रहता है। भावी अनिष्ट की कल्पना अथवा अनिश्चय की धारणा से भयभीत मनुष्य सोचता रहता है कि अब आगे जीवन कैसे चलेगा, आजीविका का साधन रहेगा अथवा नहीं? वार्धक्य का सहारा कौन होगा? यात्रा के समय सोचने लगता है कि कही कोई दुर्घटना तो नही हो जायगी। ये विचार मन को विचलित कर देते है, एक विशेष प्रकार की पीडा जन्म लेती है और मनोबल गिर जाता है।

भयभीत व्यक्ति आत्मरक्षा के प्रयोजन मे असत्याचरण को अपनाने मे सकोच नही करते और यह असत्य अनेक दोषो का जनक बन जाता है। अत अभय की भावना का बलवती होना अत्यावश्यक है। यह अभय किसी भी प्रकार के भय को फटकने भी नहीं देता और व्यक्ति को सशक्त बनाता है। शास्त्रों मे उल्लेख है—"डरना नही चाहिए। भयभीत के पास ही भय आते है। भयभीत भूतों का शिकार हो जाता है। जो स्वयं डरता है—वह दूसरों को भी डराता है। भयभीत तप-सयम को छोड़ देता है, साधना के मार्ग से बीच ही मे भाग खडा होता है। डरने वाला कभी किसी उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकता।"[1] अतः साधक को भय से दूर रहकर

---

1 न भीइयव्वं, भीतं खु भया अइति लहुयं, भीतो भूतेहिं घिप्पइ, भीतो सव संजमं पि मुएज्जा भीतो य भरं न नित्थरेज्जा.........

अभय भावना को ही बलवती बनाले रहना चाहिए। भय स्वय में कुछ भी नहीं है। देखा जाय तो अभय का अभाव ही भय है।

किसी गाँव मे प्रचलित था कि अमुक बरगद के वृक्ष म भूत रहता है। एक युवक सदा ही ऐसे प्रवादो का खण्डन किया करता था। गाँव वालो ने उसे चुनौती दी कि यदि तू सत्य कहता है कि भूत-वूत कुछ नही होता है तो आज आधीरात को उस बरगद के नीचे भूमि मे यह खूँटा गाडकर आ। युवक ने चुनौती स्वीकार कर ली। अर्द्धरात्रि को वह गया। बरगद के नीचे पहुंचकर वह भयभीत हो गया और सोचने लगा कि कही वास्तव मे कोई भूत न हो। वह कॉपते हाथों मे जैसे-तैसे खूँटा गाडने लगा। वह बार-बार इधर-उधर ताकता जा रहा था कि कही इधर से या उधर से भूत आ तो नही रहा है। किसी तरह खूँटा गाड़कर वह घर की ओर भागने लगा तो उसे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि किसी ने उसकी धोती पकड ली है। अब तो वह पसीने-पसीने हो उठा और वेग से भागने लगा। उसे लगा कि खीचने वाले के हाथ मे धोती का पल्लू फटकर रह गया है। वह घर तो जैसे-तैसे पहुँच गया पर सबेरे क पूर्व ही उसके प्राण पखेरू उड गये। गाव वालो को अपने विश्वास की पुष्टि मिल गयी। वे सोचने लगे कि इसने खूँटा भी गाडा था या नही? देखने को वे बरगद क नीचे पहुँचे। खूँटा गडा था और उसमे युवक की धोती का पल्लू भी अटका हुआ था। जब वह खूँटा गाड़ रहा था—वह भयभीत था और उसका मन विचलित था। उसने अपनी धोती के पल्लू पर ही खूँटा गाड़ दिया। इसी कारण जब वह भागने लगा तो पीछे से धोती खिची और वह भयभीत हो गया कि भूत आ गया। अज्ञान ही भय का मूल कारण है और ज्ञान अभय भावना का जनक है।

जो मैं हूँ वह मेरा आत्मा का रूप ही है। यह शरीर 'मैं' नहीं—यह मूल भावना अभय को परिपुष्ट कर सकती है। कारण यह है कि भय का प्रभाव शरीर तक ही सीमित रहता है, उसकी पहुँच आत्मा तक नही होती। यदि भौतिक सम्पत्ति की चोरी हो जाने की आशका हो, तो इसके कारण काया को ही पीड़ा का भय है। रोग, वार्द्धक्यादि भी शरीर का ही विनाश कर सकते है, चैतन्य तो आत्मा ही है उस पर कोई प्रभाव आशकित नहीं रहता। दुर्घटना से आत्मा की कोई हानि नही, आहारादि के अभाव में भी केवल शरीर को किंचित् कष्ट हो सकता है। आत्मा ही मैं हूँ और आत्मा अजर-अमर है, यह विनाश का विषय नहीं है। ऐसी स्थिति म भय किस बात का है। शरीर के प्रति यह अनासक्ति का भाव ही अभय का मूल आधार हो सकता है। अत: साधक को पुन. पुन. इस अभय भाव का चिन्तन करते रहना चाहिए। इससे उसमें अद्भुत धैर्य और स्थैर्य आता है और भय का अस्तित्व ही नही रहता। आत्मा की इस महत्ता का अज्ञान भय को जन्म देता है, अत: ज्ञान की परमावश्यकता है। ज्ञान ही उसे सिखाता है कि दु:ख पर भी धैर्य और साहस से मैं विजय प्राप्त कर सकता हू कोई दु:ख चिरस्थायी नहीं होता तो भय किस बात

का ? भयमुक्त होना साधक के लिए अनिवार्य है। अभय साधक ही साधना-पथ पर गतिशील रह सकता है।

(च) हास्यमुक्ति वचन-संयम भावना

कान्दर्पी भावना के अन्तर्गत भी हास्य का विवेचन हुआ है। हास्य सत्य का शत्रु है। अतः हास्य-मुक्ति सत्यमहाव्रत की पाँचवी भावना के रूप में मान्य हुई है। कथन के पश्चात की दबी सी हँसी इस बात का संकेत करती है कि किसी सीमा तक कथित प्रसंग में मिथ्या अथवा असत्य का योग है। सत्यभाषण तो सदा गंभीरता के साथ ही किया जाता है। सत्य की अभिव्यक्ति चिन्तन और विवेक का ही आधार स्वीकार कर सकती है, हास्य जैसी हल्की-फुल्की मनःस्थिति में सत्य-वाचक शब्दावली तक का चयन नहीं कर पाती।

श्रोताओं को हास्य से आनन्दित कर लोकप्रियता प्राप्त करने का अभिलाषी अनर्गल प्रलाप ही करेगा। उसके वचन सत्य से दूर होंगे। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हास्य सत्य का शत्रु है। जिसे हास्य का विषय बनाया जाता है, जिस का अपमान किया जाता है उसे मानसिक वेदना होती है—असत्य के साथ-साथ हास्य इस प्रकार हिंसा का कारण भी बनता है। इस भावना द्वारा साधक को अपने आचरण से सस्ते हास्य को पृथक रखने का संस्कार स्थापित करना चाहिए। यह संस्कार साधक को प्रेरित करता है कि वह अपनी वाणी को सदा संयत और गंभीर रखे। मनोविनोद करने के लिए हास्यजनक चर्चाएँ करने को वह अनुचित मानने लगे—यह आवश्यक है। ऐसा संस्कार साधक के मन में सत्य महाव्रत को सबल बनाने में सहायक रहता है।

प्रशस्त भावनाओं में इस प्रकार चारित्र भावना का प्रमुख स्थान है जिसके अन्तर्गत पंचमहाव्रत की गणना होती है। अहिंसा के पश्चात् सत्य महाव्रत की ये पाँच भावनाएं है—अनुविचित्य समिति भावना, क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना, निर्लोभ भावना, अभय भावना और हास्यमुक्ति भावना—जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

१०

अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएं निम्नलिखित हैं—

(क) विविक्तवास समिति भावना

(ख) अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना

(ग) शय्या-परिकर्मवर्जन रूप शय्या समिति भावना

(घ) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिंडपात लाभ समिति भावना

(च) साधर्मिक विनयकरण भावना

अचौर्य भावना का समग्र स्वरूप

अचौर्य—शुभ (प्रशस्त) भावनाओं के स्रोत पंच महाव्रत के अन्तर्गत तृतीय महाव्रत के रूप में परिगणित होता है। अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ अग्र उल्लिखित हैं। 'अचौर्य' का निषेधात्मक स्वरूप चोरी न करने के अर्थ में अपना आशय संकेतित करता है। लोभ-विकार-ग्रस्त मनुष्य के मन में किसी वस्तु को हथियाने की तीव्र तृष्णा रहती है और यही तृष्णा उसे चौर्यार्थ प्रेरित करती है। वस्तुतः अचौर्य महाव्रत का प्रभाव क्षेत्र अति व्यापक है तथा अन्य महाव्रतों के साथ भी इसका गहन सम्बन्ध है। यह एसा भावना-समूह है जो इसके धारक का कल्याण तो करता ही है, समाज के लिए भी इसकी बड़ी भारी उपयोगिता है। वह 'जीओ और जीने दो' सिद्धान्त का पक्का पालनकर्ता हो जाता है। समाज में व्यक्ति जब व्यवहार करता है तभी अचौर्य-प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त हो सकता है। यदि कोई इस महाव्रत का पालन नहीं करता तो अन्यजनों के लिए कष्ट और पीड़ा का कारण बनता है। ऐसी स्थिति में वह अहिंसा महाव्रत का भी पालन नहीं कर पाता। चौर्य में छल-कपट भी निहित ही होता है और इस प्रकार सत्य महाव्रत भी भंग हो जाता है। नैतिकता के क्षेत्र में चोरी का भावार्थ है—अनैतिक, असामाजिक और अनधिकृत रूप से किसी वस्तु को प्राप्त करना। जब गहन आसक्तिवश व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र कामना रखेगा तो उसके प्रयत्न ऐसे होंगे कि किसी भी प्रकारी से वह उसे प्राप्त करले। न्यायोचित और वैध तरीकों से यदि उसे सफलता नहीं भी

मिल पाती है तो वह और अनुपयुक्त तरीके अपनाने में भी कोई संकोच नहीं करेगा। इस प्रकार किसी वस्तु की प्राप्ति ही चोरी है। चौर्य का भौतिक और स्थूल स्वरूप तो 'अदत्तादान' है। ऐसी वस्तु को प्राप्त करना जो उसके स्वत्वधारी द्वारा नहीं दी गयी हो, चोरी है। किसी वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना उसका उपभोग करना या उसे ग्रहण कर लेना चोरी का स्थूल स्वरूप है। किन्तु चौर्य का सम्बन्ध इन स्थूल वस्तुओं से परे के क्षेत्रों से भी होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार किसी की निन्दा या चुगली नहीं करना, दान आदि सत्कर्मों में बाधा उपस्थित न करना, किसी का प्राणापहरण नहीं करना, किसी का अधिकार-हनन नहीं करना, किसी के साथ अन्याय नहीं करना आदि भी अचौर्य महाव्रत के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार अर्थहरण मात्र ही चोरी नहीं है—अधिकारहरण भी चोरी का ही रूप है। सज्जनों को सुकर्मों के आधार पर यशप्राप्ति का अधिकार है, निन्दा करके व्यक्ति उनके इस अधिकार का अपहरण कर लेता है तो प्राणापहरण करके किसी के जीवित रहने के अधिकार का। यही नहीं: कृतघ्नता दिखाना, बलात् सेवाएँ लेना, आहारादि के वितरण में भेदभाव करना, किसी के साथ पक्षपात करना आदि भी अधिकार-हरण के ही विभिन्न स्वरूप हैं। साधक को स्थूल और सूक्ष्म, अर्थहरण और अधिकारहरण सभी प्रकार के चौर्य से अपने आपको बचाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति में चौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ उसके साथ सहयोग कर सकती हैं।

(क) विविक्तवास समिति भावना

साधु अपने आवास के लिए कोई घर या आगार न तो स्वयं बनाता है और न ही उसके उपयोगार्थ कोई अन्यजन बनाता है तो उसका वह उपयोग ही करता है। इस कारण साधु 'अणगार' कहाता है और गृहस्थजन को 'आगारी' कहा जाता है। शास्त्रों में विधान है—

"साधु को श्मशान, शून्य गृह, वृक्ष के तले, परकृत (गृहस्थ द्वारा स्वउपयोगार्थ निर्मित) भवन, एकान्त स्थल में निवास करना चाहिए। जो स्थान प्रासुक हो, किसी के लिए पीडाकारी न हो, जहाँ स्त्रियों का उपद्रव-आवागमन न हो—परम संयमी साधु ऐसे स्थान पर निवास करे।"[1]

साधु के निवासार्थ ऐसे ही स्थान उपयुक्त हैं जिनसे उसके आचार में स्खलना आदि की आशंका न रहे तथा किसी प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करवाने की आव-

---

१ सुसाणे, सुन्नागारे, वा रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थऽभिरोयए॥
फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं भिक्खू परमसंजए॥ —उत्तराध्ययन ३५।६-७

श्यकता न हो। प्रश्नव्याकरणसूत्र में इस व्याख्या के साथ देवालय, प्याऊ, मठ, उपवन, तरु-तल आदि स्थानों को उपयुक्त माना है। महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पालन मे साधु के लिए जिन स्थानो पर निवास बाधक नही बनता हो, वे ही स्थान निर्दोष हैं। ऐसे निर्दोष स्थानों मे निवास करना ही विविक्तवास है।

यदि कोई साधु अपने निवासार्थ मकान बनाये तो उसके महाव्रतो के पालन मे अनेक प्रकार के दोष स्वाभाविक रूप में ही आ जाते है। निर्माण कार्य मे पृथ्वी, पानी आदि जीवनिकायो की हिंसा होगी, इसके होते हुए भी वह स्वयं को अहिंसक ही घोषित करता रहेगा—यह सत्य महाव्रत का उल्लंघन होगा। मकान के प्रति स्वामित्व और ममत्व का भाव भी रहेगा। अन्य साधुजनों को वहाँ विश्राम करने के लिए भी वह पक्षपात करेगा, मकान की सुरक्षा की चिन्ता भी रहेगी ये सब दोष ही दोष हैं।

इन दोषो से बचे रहने के लिए साधु को निरन्तर चिन्तन करते हुए यही सोचते रहना है कि वह तो अणगार है, उसे निर्दोष स्थानो पर ही समय व्यतीत करना है। बहते जल और पवन की भाँति उसका कोई निश्चित स्थान नही है। परकृत-आवास ही उसका तात्कालिक आश्रय हो सकता है.. आदि-आदि। यही विविक्तवास भावना है।

(ख) अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना

आवास-स्थल की चिन्ता से मुक्त रहना साधु के स्वभाव का ही एक अभिन्न अंग हो जाय—यह अनिवार्यता अचौर्य महाव्रत की प्रथम भावना के अन्तर्गत प्रतिपादित की गयी है। द्वितीय भावना बिछौनों की चिन्ता से मुक्त रहने की प्रेरणा देती है। साधुजन घास-फूस के बिछौनों का उपयोग करते हैं, रुई आदि के नहीं। घास-फूस सर्वत्र सुलभ और मूल्यहीन वस्तु है, किन्तु अपने उपयोगार्थ किसी साधु को कही पडी घास-फूस को यों ही नही उठा लेना चाहिए। उसके स्वामी से याचना की जानी चाहिये और उसकी अनुमति प्राप्त होने पर ही ग्रहण की जानी चाहिए।

साधु के लिए अपेक्षित है कि वह शय्या-संस्तारक सम्बन्धी वस्तुओं की चिन्ता से मुक्त रहे। अनुकूल शैय्या न मिलने अथवा शैय्या के सर्वथा न मिलने पर भी उसके मन मे कोई अवसाद नही होना चाहिए। उसका चिन्तन तो इस दिशा में होना चाहिए कि मेरे लिये धरती ही सुन्दर सेज है और मेरी भुजा ही सुखदायक तकिया है।[1] ऐसा सन्तोष धारण कर साधु निश्चित निद्रा लेता है और मन म समाधि रखता है। वह कभी भी बिना दी हुई शय्या-संस्तारक सामग्री ग्रहण करने की इच्छा नही करता।

---

१ मही रम्या शय्या विपुलमुपधान भुजलता

(ग) शैया-सस्तारक परिकर्मवर्जना रूप शैया समिति भावना

इस भावना के अन्तर्गत आवास स्थल और शय्या को सुखद और सुन्दर बनाने के प्रयत्नो एव इच्छा का निषेध है। प्राप्त आवास स्थल यदि सुखद न हो, सुन्दर न हो, वहाँ मच्छर आदि का कष्ट हो, प्रकाश और हवा का अभाव हो तो भी उसे उसी रूप मे स्वीकार करना चाहिए। उसे सुन्दर, हवादार, प्रकाशयुक्त बनाने के प्रयत्न नही किये जाने चाहिये, न ही मच्छरो को भगाने का कोई उपक्रम (धूँआ आदि करना) किया जाना चाहिये। उसे शय्या को अधिक सुन्दर और आरामदायक बनाने का प्रयत्न भी नही करना चाहिये। यदि ये प्रयत्न किये जाते है तो उनमे हिंसा का दोष लगना स्वाभाविक ही है। हिंसा प्राणापहरण है जिसके लिए जीवो की अनुमति नही होती और इस प्रकार यह चौर्य कर्म है। भगवान ने इस प्राणो की चोरी को अदत्तादान कहा है—'अदुवा अदिन्नादाण'।

(घ) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना

धर्म का आधार शरीर है। अत शरीर धारण किये रखने के प्रयोजन से ही साधु आहार ग्रहण करता है, स्वाद अथवा आनन्द के लिए नही। भिक्षा से ही उसे आहार सुलभ होता है, अन्य कोई माध्यम है ही नही। भिक्षा से प्राप्त निर्दोष आहार की उपयोग-विधि ही इस भावना का प्रतिपाद्य विषय है। प्रथम सिद्धान्त ही यह है कि भिक्षा मे प्राप्त आहार आदि साधु की निजी सम्पत्ति नही है। उस पर संघ भर का सम्मिलित अधिकार होता है। संघ मे अनेक साधु साधनारत रहते हैं। ये साधु सभी एक से तो होते नही। कोई स्वस्थ है तो कोई रोगी भी हो सकता है, कोई दुर्बल भी। सघ के आचार्य ही सभी साधुओ के सयम-सचालन का दायित्व वहन करते है। वे ही भिक्षा मे प्राप्त आहार, उपकरण, औषधि आदि का आवश्यकतानुसार वितरण करते है। जिस साधु को भिक्षा में जो वस्तु मिली है वही उसका उपयोग करे—ऐसा विधान नही है। भिक्षा मे प्राप्त सामग्री को साधु आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करता है और तब फिर सविनय अपनी आवश्यकता के विषय मे निवेदन करता है। वस्तु की उपयोगिता के आधार पर आचार्य न्यायपूर्वक साधुओ मे वितरण करते है। यह 'न्याय' सघीय जीवन के लिए अत्यावश्यक है। इस के अभाव मे साधुजनो मे पारस्परिक सद्भाव व स्नेह का निर्वाह असभव है और ऐक्य के समाप्त हो जाने का भय भी है। साधु को भिक्षा मे प्राप्त वस्तुओ का उपयोग अकेले करते रहने की इच्छा नहीं होनी चाहिये। वस्तु को छिपाने अथवा अच्छी वस्तु का स्वय उपयोग करने की कामना साधु के मन मे नही जागनी चाहिये। इससे साधर्मिको के अधिकार का हनन होता है। भिक्षा की वस्तु का उपयोग जो साधु अकेला करता है उसका चारित्र दोष-युक्त हो जाता है। सघ मे अप्रीति और अविश्वास की भावना व्याप्त हो जाती है जो हानिकारक तत्त्व है। सघ के साधुओ मे पारस्परिक आदर की भावना भी अनिवार्य है। ऐसे दूषित व्यवहार से यह पारस्परिक आदर भाव भी नहीं टिक पाता

असविभाग (वितरण न) करने वाले को मुक्ति का लाभ नही होता।[1] अस्तु साधु को सदा ही सविभाग, न्याय, पारस्परिक सम्मान और प्रीति का सस्कार सबल करना चाहिये। इस दिशा मे इस भावना का चिन्तन सहायक होता है।

(ख) साधर्मिक विनयकरण भावना

समान आचरण वाले या समान धर्म वाले साधर्मिक कहे जाते है। साधु-साधु परस्पर साधर्मिक है, श्रावक-श्रावक भी परस्पर साधर्मिक है। प्रत्येक साधु को (प्रत्येक श्रावक को भी) अपने साधर्मिको के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार रखना चाहिये। इस व्यवहार के निर्वाह के लिए अनिवार्य है कि छोटा साधु अपने से बडो के प्रति सम्मान का भाव रखे और बडा साधु छोटे साधुओ के प्रति स्नेह-वात्सल्य का भाव रखे। यह व्यवहार पारस्परिक प्रीति को जन्म देता है और तब प्रत्येक साधु अन्य साधु के लिए त्याग करने को तत्पर रहेगा। सघ सुदृढ होता चला जायगा। साधना की प्रगति मे भी परस्पर सहयोग की प्रवृत्ति बढती चली जायगी। यह भावना साधु को इस आशय के चिन्तन की प्रेरणा देती है कि वह अपने मन को सेवा, सहयोग, विनय और स्नेह के भावो से सदा प्रफुल्लित रखे। इसी मे स्वयं उसका और सघ का शुभ निहित है। साधक का मन इस प्रकार के चिन्तन से निश्छल और निर्मल हो जाता है और साधना मार्ग पर तीव्र प्रगति सभव हो जाती है। □

---

1 न हु तस्स मोक्खो

११

ब्रम्हचर्य महाव्रत की भावनाएँ

इन्द्रिय-संयम, आत्मरमण, विद्याध्ययन का,
योग है ब्रह्मचर्य भगवान समान।
सकल व्रतों का एकीकृत आराधन है,
यह महाफलों का करता दान॥

(क) असंसक्तवास वसति
(ख) स्त्रीकथाविरति
(ग) स्त्री-रूपदर्शनविरति
(घ) पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ितविरति
(च) प्रणीत आहार-त्याग

ब्रह्मचर्य महाव्रत के विषय में

शुभ अथवा प्रशस्त भावनाओं के प्रथम सोपान पञ्चमहाव्रत 'अथवा चारित्र भावना के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य चतुर्थ महाव्रत है, किन्तु अपनी महत्ता में वह सर्वाग्रगण्य है। भगवान ने इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कथन किया है कि जैसे तीर्थंकर सब मुनियों में श्रेष्ठ होता है वैसे ही ब्रह्मचर्य सभी महाव्रतों में श्रेष्ठ है **'तं बभं भगवंतं'** कहकर भगवान ने ब्रह्मचर्य को भगवान के समान, अर्थात् स्वयं अपने ही समान गरिमा प्रदान की है। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर समस्त व्रत-नियमों की आराधना हो जाती है।[1] यह व्रतश्रेष्ठ ब्रह्मचर्य क्या है? साधारण अर्थ में तो जननेन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य है, किन्तु वस्तुतः समस्त इन्द्रियों का संयम ब्रह्मचर्य में निहित है। शास्त्रों में ब्रह्म के तीन अर्थ मिलते है—वीर्य, **आत्मा और विद्या**। इसी प्रकार चर्य के भी तीन अर्थ हैं—रक्षण, रमण और अध्ययन। इस क्रमसंयोजन से ब्रह्मचर्य का जो अर्थ प्राप्त होता है उसका स्वरूप होगा—वीर्य-रक्षण, आत्म-रमण और विद्या-अध्ययन। ब्रह्मचर्य की समग्र अर्थवत्ता में इन तीनों का समा-

१ एयमि बंभचेरे आराहियमि आराहियं वयमिण सव्वं

वेश है। ब्रह्मचर्य से शक्ति व स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, विशेषत आत्मा राग-द्वेष से रहित होकर शुद्ध हो जाती है। साधक इस आत्म-शुद्धि के प्रयोजन से ही इस महाव्रत की आराधना करता है। व्यक्ति का आत्मिक, मानसिक और शारीरिक तीनो प्रकार का विकास ब्रह्मचर्य से सधता है। यह महाव्रत शरीर और मन को सशक्त बनाकर इहलौकिक फल और आत्मशुद्धि द्वारा पारलौकिक फल देता है।

ब्रह्मचर्य का पालन श्रमण और गृहस्थ सभी के लिए शुभफलदायक है—इसमे कोई सन्देह नही। गृहस्थ इस व्रत का पालन यथासामर्थ्य करता है, किन्तु श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य का समग्रत पालन वाछित है। ब्रह्मचर्य को मन में सुस्थिर करने के लिए साधु को चाहिए कि वह अपनी दिनचर्या को सादगी और शान्तिपूर्ण रूप दे, ऐसे वातावरण से दूर रहे जो मन को चंचल बनाता हो या उत्तेजित करता हो। इन्ही अपेक्षाओ के साथ ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाओ का विधान किया गया है।

(क) असंसक्तवास वसति भावना

ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाओ का प्रयोजन उन कारणो, स्थलो और प्रसंगो निषेध करना है जिनमे साधक के ब्रह्मचर्य के दुर्बल होने की आशका रहा करती है। साधु के लिए धर्मसाधनार्थ किसी निर्बाध स्थल की अपेक्षा तो बनी ही रहती है। प्रस्तुत भावना का मूल प्रतिपाद्य साधना-स्थल ही है। भोजन, वस्त्र, उपकरणादि याचना करके अथवा स्वामी की अनुमति प्राप्त करके ही ग्रहण किये जाने का विधान है, उसी प्रकार स्थान (भवनादि) भी उसके स्वामी की अनुमति से ही अपनाया जाना चाहिए। इसमें स्वेच्छाचारिता से साधु को काम नही लेना चाहिए। न तो वह भोजन पकाता है और न ही भवन निर्मित करता है। किसी स्थान की याचना करने से पूर्व यह परीक्षा कर लेना भी अनिवार्य है कि वह साधना के प्रयोजन से सर्वथा उपयुक्त और निर्दोष है। अविवेकपूर्ण स्थान-चयन से चारित्र की हानि आशकित रहती है। साधु का सयम भग हो सकता है जो उसके लिए सर्वनाशवत् है।

शास्त्रों में सविस्तार यह वर्णित है कि साधना-स्थल की क्या विशेषताएँ अपेक्षित है। वह स्थान या भवन कदापि चयन-योग्य नही जहाँ स्त्रियाँ सोती-बैठती हो, जिसके द्वार से स्त्रियो का आवागमन होता रहता हो, जिसकी खिडकियो से बार-बार स्त्रियों पर स्त्रिया पर दृष्टि पड़ती हो, जो वेश्याओ के आवास के समीप हो। ऐसे स्थान पर रहने से साधु के मन मे रति-राग, मोहादि का जन्म स्वाभाविक है। अत: ऐसे स्थान अनुपयुक्त है। स्त्रियो की समीपता ब्रह्मचर्य के लिए कभी भी घातक सिद्ध हो सकती है। 'मुर्गी के चूजो को जैसे बिल्ली से भय बना रहता है, वैसे ही स्त्री के कामोत्पादक गात्र से ब्रह्मचारी को भय रहता है। ऐसा स्थान चाहे कितना ही सुखद और सुविधाजनक क्यों हो वह सदा त्याज्य समझा जाना चाहिये यह सुख-सुविधा किसी क्षणमात्र में वर्षों की साधना को चौपट कर सकती है इसकी

अपेक्षा कष्टकर स्थान चुन लेना अधिक अच्छा है। यह कष्ट तो सीमित समय का ही होगा। फिर तो उसे स्थान परिवर्तित करना ही है। स्त्री-संसर्गयुक्त स्थान पर निवास का निषेध करने वाली ब्रह्मचर्य व्रत की यह प्रथम भावना इस प्रकार के चिन्तन के लिए साधु को प्रेरित करती है।

(ख) स्त्रीकथाविरति भावना

उक्त प्रथम भावना के अन्तर्गत स्त्री-दर्शन से ब्रह्मचर्य मे दोषागमन आशंकित माना गया है और प्रस्तुत द्वितीय भावना मे स्त्री-विषयक चर्चा का निषेध है। स्त्री के सम्बन्ध में चिन्तन करना, उसके साथ मानसिक सान्निध्य स्थापित करना है और स्त्री-कथा उसी प्रच्छन्न सान्निध्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ न केवल श्रोताओ के लिए उत्तेजक होती है, अपितु उनसे स्वय कर्त्ता की भी हानि होती है, उसका मनोबल गिरता है और धीरे-धीरे वह ज्ञात-अज्ञातरूप मे अब्रह्मचर्य की दिशा मे अग्रसर होता चला जाता है। शास्त्राध्ययन, चिन्तन-मनन, ध्यानादि से ही साधु की दिनचर्या का गठन होना चाहिए। समय-समय पर व्याख्यान, सदुपदेश आदि भी उसमे सम्मिलित रहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य, हास-विलास और कामुक-प्रसंगो की कथाएँ कहने लग जाय। श्रोता इस प्रकार की वार्ताओं में रस लें—यह भी स्वाभाविक है और यह परिणाम व्याख्यान कर्त्ता को इसी प्रकार के प्रसगो को पुनः पुन अपनाने को उत्सुक कर देगा। उसे भी इनमे एक विशेष प्रकार का रसानुभव होने लगेगा जो अन्ततः घातक ही सिद्ध होगा। साधना से उसका चित्त च्युत होने लगेगा और संयम की हानि आसन्न हो जायगी। अत ऐसे प्रसंगो से बचने और स्वाध्याय मे चित्त रमाने की प्रेरणा इस भावना के चिन्तन द्वारा प्राप्त होती है जिससे उसका संयम को दृढ़तर बनता है।

(ग) स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना

ब्रह्मचर्यव्रत विषयक यह तृतीय भावना भी साधु को आत्मानुशासन की ओर अग्रसर करती है, उसे सीख देती है कि वह स्त्री के रूप सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हो उसके सुन्दर अंगों का अवलोकन न करे—ऐसी कामना ही मन मे उत्पन्न न होने दे। रूप तो मनुष्य की अर्जित सम्पत्ति या विशेषता नही होती, यह उसके शुभ नाम-कर्म का फल है। अस्तु सौन्दर्य स्वत: भला या बुरा नहीं होता। उसका भला या बुरा परिणाम तो देखने वालो की दृष्टि के अनुरूप होता है। रूपावलोकन से उसके प्रति आसक्त हो जाना ही घातक है। रूप पर मुग्ध होकर मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए सहज ही आतुर हो जाता है। साधु के लिए इस से बढकर घातक वस्तु अन्य क्या होगी ? दीपक की तेजपूर्ण, दीप्तियुक्त लौ का अपना ही सौन्दर्य है, उससे आनन्दित होना एक बात है और पतगा उसमे कूदकर भस्म हो जाता है—यह अन्य बात है। यह एक तथ्य है कि रूप का अवलोकन मनुष्य की सहज वृत्ति है, किन्तु इसके पीछे

रागद्वेष या आसक्ति नहीं हो, यह अपेक्षित है। राग की दृष्टि से देखने वाले के लिए रूप रागोत्पादक है, तो द्वेष की दृष्टि से देखने वाले के लिए वही रूप द्वेषजनक भी है। साधु के लिए विधान है कि वह रूपासक्त न हो। रूपवती स्त्री को देखकर प्रमुदित हो जाना, मन में उसके लिए प्रणयिनी की भावनाएँ आना, बार-बार उसे निहारने की इच्छा होना और तदर्थ प्रयत्न करना आदि राग है, आसक्ति है, मोह है और यह दृष्टि बुरी है। कामसहित दृष्टि से स्त्री के रूप को निरखना साधु के ब्रह्म-चर्य के विवेक को मन्द कर देता है। फिर तो मन में ध्यान के स्थान पर वही रूप छवि बस जाती है। साधक साधना को विस्मृत कर रूपवती की आराधना में ही रत हो जाता है। इस विकट परिस्थिति में बचने के लिए ही यह दृढ़ आत्मानुशासन है कि साधु स्त्री के रूप का निरीक्षण ही नहीं करे। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

(घ) पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ितविरति भावना

ब्रह्मचर्य व्रत की इस चतुर्थ भावना का सम्बन्ध साधक के वर्तमान समय के जीवन से न होकर उस समय से साथ है जो अतीत हो चुका है। आज तो वह संयमी है, ब्रह्मचर्य व्रती है किन्तु संयम-ग्रहण से पूर्व के जीवन में वह यह रूप नहीं रखता था। तब तो वह सांसारिक था, गृहस्थ था। पत्नी, प्रेयसी आदि के साथ उसकी कामक्रीडाएँ चली, दरस-परस होता रहा, प्रेमालाप चलता रहा। आज के इस संयत जीवन में उस संयमहीन अतीत की स्मृति मात्र भी उसके लिए डगमगाहट उत्पन्न कर देती है। उन घोर संवेदनशील क्षणों में साधु अपना वर्तमान जीवन भूल कर उस अतीत में ही जीने लग जाता है। कामोत्तेजना का शिकार होकर वह आज पतित हो जाता है, उसके संयम को इससे ठेस पहुँचती है। अतः पूर्वक्रीडित रति की ओर मानसिक उन्मुखता से साधक को बचना चाहिये। संयम-पूर्व के जीवन का सर्वथा पटाक्षेप हो जाना चाहिये। उसका ऐसा अभ्यास सबल हो जाना चाहिये कि एकान्त में उसका मन ध्यान में लीन हो, पूर्वभोग की स्मृतियों में लिप्त न हो।

(च) प्रणीत आहार विरतिभावना

शुद्ध, सादा, सात्विक आहार मन को शुद्ध रखता है और ऐसे मन का दूषित होना कठिन होता है। ब्रह्मचर्य के निर्वाह में उत्तेजित न करने वाले बाह्य वातावरण और परिवेश की जितनी महत्वपूर्ण आवश्यकता रहती है, उतनी ही मानसिक शुचिता की भी। और यह एक तथ्य है कि जिस प्रकार का आहार किया जायगा वैसा ही मानसिक जगत् निर्मित होगा। इसे गौण नहीं माना जा सकता कि शुद्ध मन के लिए शुद्ध भोजन की अपेक्षा रहती है। इसी महत्ता के कारण प्रणीत आहार विरति को ब्रह्मचर्य की एक भावना माना गया है। इस भावना के अनुरूप न तो अतिस्निग्ध भोजन किया जाना चाहिये और न ही प्रकाम या अधिक मात्रा में भोजन करना चाहिये। अधिक चटपटे आहार का निषेध किया गया है। भोजन का ऐसा रूप ही प्रणीत आहार कहा जाता है अतिस्निग्ध चटपटे रसीले प्रणीत आहार से धातु

कुपित, मन चंचल, और चित्त विकार-ग्रस्त हो जाता है। फलत मनुष्य शीघ्र ही विषय-भावना के जाल में जकड जाता है। आदर्श आहार तो वह है जो सुपाच्य होता है, शक्तिदायक होता है और मन के लिए प्रसन्नकर होता है। भोजन गरिष्ठ नहीं होना चाहिये। ऐसा भोजन प्रमाद उत्पन्न करता है, आसुरी प्रवृतियो को उत्तेजित करता है।

प्रणीत आहार से साधु की प्रतिष्ठा और मर्यादा भी घटती है। स्वादिष्ट भोजन-लोलुप बार-बार भिक्षार्थ उन्ही घरो में जायगा जहाँ से उसे मनोवांछित स्वादिष्ट भोजन मिलता हो—शेष घरो की वह उपेक्षा करने लगता है। उसकी यह प्रवृत्ति लोकापवाद व आपकीर्ति का कारण बनती है। अधिक मात्रा मे आहार करना भी रोगों को निमंत्रित करना है। धर्म के आधारस्वरूप शरीर को सहारा देने के प्रयोजन से ही मुझे आहार ग्रहण करना है, स्वादानन्द के लिए नही—साधु को सदा इस आशय की चिन्तना करनी चाहिये। यह चिन्तन साधु में आहार-संयम को पुष्ट करेगा और ब्रह्मचर्य में स्थिर रखेगा। भोजन के प्रति साधु का मन सर्वथा आसक्ति रहित होना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए यह भावना अत्यावश्यक है। □

१२

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

इस काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने अपरिग्रह को पृथक पंचम महाव्रत के रूप में प्रवर्तित किया था। इस प्रवर्त्तन के पूर्व परिग्रह की भावनाएँ ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत ही निहित मानी जाती थी। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम धर्म' के नाम से जाना जाता था। अपरिग्रह के अन्तर्गत स्त्री के प्रति ममत्व का त्याग भी सन्निहित था अतः इसे ब्रह्मचर्य का एक स्वरूप स्वीकारा गया। अन्य भौतिक साधन-सामग्रियों, धन-सम्पदादि की भाँति स्त्री भी एक परिग्रह है और यह परिग्रह भगवान महावीर स्वामी के पूर्व तक तो इतना सशक्त था कि स्त्री का पर्याय ही 'परिग्रह' हो गया था। मनुष्य धीरे-धीरे अत्यधिक तर्कवादी होता गया और ऐसे बुद्धिशील मनुष्य को धर्म की मर्यादा समझाने के लिए भगवान ने ब्रह्मचर्य से पृथक अपरिग्रह महाव्रत की स्थापना की अपेक्षा अनुभव की। तब से स्त्री के प्रति ममता का त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप मे और धन-सम्पदा की लालसा का त्याग अपरिग्रह महाव्रत के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है।

अहिंसा की भाँति अपरिग्रह भी एक निषेधात्मक शब्द है जो अमुक को अकरणीय बताता है, त्याज्य बताता है। यह अकरणीय और त्याज्य है—परिग्रह। परिग्रह का सामान्यार्थ है—सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना। किसी भी वस्तु को इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना, अथवा मूर्च्छा-ममता-बुद्धि के साथ ग्रहण करना परिग्रह है।[1] वस्तु के सम्पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिये जाने के साथ मनुष्य की यह प्रवृत्ति भी परिग्रह मे अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है कि वह वस्तु के साथ अपनेपन या मेरेपन की

---

१ परि सामस्त्येन ग्रहण परिग्रहण········मूर्च्छाविशेन परिगृह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्धया गृह्यते इति परिग्रह — वृत्ति २१५

भावना स्थापित कर लेता है। यह वस्तु मेरी और अकेले मेरी ही है—इस भाव के साथ वस्तु का ग्रहण किया जाना परिग्रह है। उस भावना से रहित वस्तु को ग्रहण कर उसका उपयोग करना परिग्रह नही है। अत: परिग्रह के विषय मे प्रधान तत्व ममता-बुद्धि का, मूर्च्छा भाव का ही है। साधुजनो को भी यत्किंचित् उपकरणादि की तो अनिवार्य आवश्यकता रहती ही है। वे उनका ग्रहण और उपयोग भी करते है, किन्तु मर्यादापूर्वक और ममतारहित ग्रहण होने के कारण वह परिग्रह नही कहा जा सकता।

इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति के पास धन-धान्य-सम्पदा आदि का सग्रह नही है तो मात्र इसी कारण वह अपरिग्रही नही कहा जा सकता। रकता एक बात है और अपरिग्रह अन्य बात। यदि अभाव है तो इसके दो कारण हो सकते है—एक तो यह कि वह व्यक्ति सग्रह करने की तो उत्कट लालसा रखता है, किन्तु कर नही पाता, उसमे सामर्थ्य और क्षमता नही है। यह तो उसकी अयोग्यता है अपरिग्रह नही है। सग्रह के अभाव का दूसरा कारण यह हो सकता है कि उसमे क्षमता तो है चाहे तो विपुल सग्रह कर ले, किन्तु वस्तुओ के प्रति ममत्व का त्याग उसने कर दिया है, लालसा नही है अत वह ग्रहण नही करता—यही अपरिग्रह का स्वरूप है। अपरिग्रह मे त्याग मुख्य है। जो व्यक्ति प्राप्त करने की लालसा रखता है, किन्तु अयोग्यतावश प्राप्त नही कर पाता उसका त्याग कहाँ है? सक्षम होते हुए भी स्वेच्छा से जो ग्रहण नही करता उसी मे त्याग की भावना मानी जा सकती है। इस भौतिक त्याग के पीछे ममता-बुद्धि, मूर्च्छाभाव का त्याग सक्रिय रहता है। सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षत वस्तु का अभाव होना अपरिग्रह नही है। इसके लिए तो ममता का अभाव होना अनिवार्य है। यही अपरिग्रह की कसौटी है। वस्तुओ के साथ मेरापन जोडना—परिग्रह है।

ममता, परिग्रह का ही एक रूप है और अपरिग्रह की शत्रु है। जहाँ अपरिग्रह है वहाँ ममता नही और जहाँ ममता है, वहाँ अपरिग्रह नही। ममता और परिग्रह अन्योन्याश्रित है। ममता की वृद्धि से परिग्रह बढता है और परिग्रह की वृद्धि से ममता का पोषण होता चला जाता है। परिग्रह-पोषक इस ममता को क्षीण करने की दृष्टि से ममता के कारणो की पहचान भी आवश्यक है। ये कारण भी परिग्रह ही है।

परिग्रह के दो प्रमुख भेद हैं—

(१) अन्तरंग परिग्रह
(२) बाह्य परिग्रह

अन्तरग परिग्रह : भेदोपभेद

अन्तरग परिग्रह का आभ्यन्तरिक या मानसिक स्वरूप होता है। वस्तुत. मूर्च्छा या वस्तु आदि के प्रति ममत्व ही परिग्रह का मूल स्वरूप होता है व त्मा के

वे परिणाम जो कर्मबन्ध अथवा मूर्च्छा के हेतु बनते हैं—वे अन्तरंग परिग्रह हैं। ये प्रकटतः दृष्टिगत नहीं होते। कामना रूप में प्रच्छन्न होते है, इनके परिणाम-स्वरूप मनुष्य का जो व्यवहार होता है—मात्र वही दृश्यमान होता है। उदाहरणार्थ—'एगे असंयमे' कहकर असयम को प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अन्तरग परिग्रह का एक प्रमुख भेद बताया गया है। किसी वस्तु के प्रति लालसा, तृष्णा, कामना, आकांक्षा का होना उस वस्तु के प्रति ममता है। यही असयम है। आशा-तृष्णा का यह असंयम परिग्रह का कारण होता है। यह मूर्च्छा ही सभी परिग्रहो का मूलाधार है।[1]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में अन्तरग परिग्रह के तीन प्रमुख भेद वर्णित है—

—पृथ्वीकाय आदि जीवो का आरम्भ (हिंसा) करना,

—धर्म के साधनभूत उपकरणादि के अतिरिक्त अन्य बाह्य वस्तुओं का मूर्च्छावश सग्रह करना और

—मिथ्यात्व आदि अन्तरंग दोष।

इन्ही का विस्तृत रूप ५ भेदो के स्वरूप मे भी मिलता है जो निम्नानुसार है—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) अशुभयोग।

आगमों की टीकाओ मे तनिक और भी विस्तार से अन्तरग परिग्रह का वर्गीकृत किया गया है और इसके १४ भेदो का उल्लेख किया गया है—

(१) मिथ्यात्व (२) राग (३) द्वेष (४) मान (५) क्रोध (६) माया (७) लोभ (८) हास्य (९) रति (१०) अरति (११) शोक (१२) भय (१३) जुगुप्सा (१४) वेद।

ये सभी वस्तुत चित्त की दूषित वृत्तियाँ ही है जो आत्मा को कर्मबन्धन मे अधिकाधिक ग्रस्त करती रहती है और ममता एवं मूर्च्छा भाव को दृढ़ बनाती रहती हैं, जो परिग्रह का आधारभूत तत्व है।

बाह्य परिग्रह : भेदोपभेद

अन्तरंग परिग्रह का विवेचन किया ही जा चुका है। उन दूषित मनोवृत्तियो के साथ जब कभी कोई बाह्य वस्तुओ को ग्रहण करता है तो यह बाह्य परिग्रह है। किस प्रकार की वस्तु को मूर्च्छा सहित ग्रहण किया जा रहा है इस आधार पर ही बाह्य परिग्रह का वर्गीकरण किया जाता है। ये भौतिक पदार्थ सख्या मे अनन्त है। तदनुसार यो तो बाह्य परिग्रह असंख्य प्रकार के हो सकते है, तथापि सुविधा के लिए इन्हें ९ प्रमुख वर्गों मे रखा गया है। ये ही बाह्य परिग्रह के भेद है—

[1] मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

(१) क्षेत्र—कृषि भूमि, खुला भू-भाग, नगर-राज्यादि
(२) वास्तु—निवास-स्थल, भवन आदि
(३) हिरण्य—चाँदी, मुद्राएँ आदि
(४) सुवर्ण—स्वर्णाभूषण आदि
(५) धन—हीरा मोती, पन्ना जवाहरात आदि
(६) धान्य—गेहूँ, चावल आदि खाद्य पदार्थ
(७) द्विपद—अनुचर, दास, दासी आदि
(८) चतुष्पद—चौपाये—गाय, भैस, अश्व आदि
(९) कुप्य—वस्त्र, पर्यंक, धातु-निर्मित अन्य सामान आदि

एक अन्य वर्गीकरण में किंचित् भिन्नता एवं नवीनता के साथ बाह्य परिग्रह के १० भेद भी किए गए हैं[1]—

(१) क्षेत्र (२) वास्तु (३) धन (४) धान्य (५) संचय (तृण, काष्ठ आदि का सग्रह) (६) मित्रज्ञाति संयोग (मित्र एवं परिजन) (७) यान-वाहनादि (८) शयनासन—पलंग, पीठ आदि (९) दास-दासी (१०) कुप्य—धातु आदि के बर्तन।

एक आधार के अनुसार परिग्रह के उपर्युक्त दो भेद किये जाते हैं—अन्तरंग परिग्रह एवं बाह्य परिग्रह। परिग्रह के एक अन्य आधार पर किये गये वर्गीकरण के अनुसार इसके तीन भेद भी बताये जाते हैं[2]—

(१) **कर्मपरिग्रह**—आठ कर्मरूप परिग्रह—रागद्वेष के वशीभूत आत्मा इन्हें ग्रहण करती है।

(२) **शरीरपरिग्रह**—इसे प्रत्येक संसारी जीव धारण करता है।

(३) **बाह्य भांडमात्र परिग्रह**—बाह्य वस्तु उपकरण आदि सम्बन्धी।

घातक परिग्रह त्याज्य है

परिग्रह का स्वरूप तो स्पष्ट ही है। आसक्ति, ममता और मूर्च्छा जब मन में भरी हो तब बाह्य वस्तुओं का सग्रह किया जाना परिग्रह है। परिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए पतनकारी है, घातक है। परिग्रहवशात् समस्त ग्राह्य बाह्य वस्तुएँ सुखद, सरस, सुन्दर और प्रिय लगती हैं, किन्तु यह मन की छलना मात्र है। यह ललक और आकर्षण मृग-तृष्णा के समान है जो कभी तुष्ट नहीं होती। मनुष्य इनके पीछे लपकता रहता है और ये कामनाएँ हैं कि जो कभी समग्रत: पूर्ण नहीं होतीं। यह उपलब्धिहीनता और असफलता मानवमन को एक तीव्र अशान्ति, असन्तोष और

---

१ खेत्तं वत्थु धण धन्न-संचओ मित्तणाइ सजोगो।
जाण-सयणासणाणि य दासी-दास च कुविय च ॥

२ कम्म परिग्गहे सरीर परिग्गहे बाहिर भडमत्त परिग्गहे — भगवतीसूत्र १८।७

वेदना से भर देती है। मनुष्य छटपटाता रहता है। ये कामनाएँ जब तक दूरस्थ होती हैं, तभी तक सुखद प्रतीत होती है। काम्य वस्तु की प्राप्ति के समीप पहुँचकर व्यक्ति उसकी असारता और अयथार्थता से परिचित हो जाता है और अन्य कामनाओं को परिपोषित करने लगता है। यह चक्र अजस्रता के साथ सचालित रहता है। बाह्य वस्तुओं का वह ज्यों-ज्यों सग्रह करता चलता है, त्यों-ही-त्यों और अधिक की प्राप्ति की आकाक्षा बलवती होने लगती है। यह अनन्त आकाक्षा विकट दु खो की परिधि मे घेरकर व्यक्ति को त्रस्त करती है। परिग्रह के भीषणतम दुष्परिणामों का विवेचन भगवान महावीर ने अत्यन्त प्रभावपूर्णता के साथ इस प्रकार किया है—

परिग्गहं....विणासमूलं, बहुबंधप्परिकिलेसबहुलं....
सव्वदुक्खसंनिलयं अप्पसुहो बहुदुक्खो....महब्भओ

प्रश्नव्याकरण—आस्रव द्वार से उद्धृत उक्त सूक्ति का भावार्थ है कि परिग्रह विनाशमूलक होता है, इसमें बहुत वध, बन्धन और क्लेश है। परिग्रह सब भाँति के दु खों का घर है और यह कारण है अल्पसुख एव बहुदु ख का। परिग्रह महाभय है।

यथार्थ मे परिग्रह एक ऐसा मोह-पाश है कि मनुष्य उसमें फँसकर नाना भाँति के अकरणीय कृत्यो में भी एक औचित्य का दर्शन करने लगता है, आत्म-प्रवचित होता रहता है। तत्काल सुख-लिप्सा उसे पतन के कितने भयावह गर्त में धकेल देगी—इस तथ्य की वह जान-बूझकर अनदेखी करने लगता है। 'अन्त भला, सो सब भला'—उक्ति का भ्रान्तार्थ अपनाकर वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति के प्रयोजन स नीति-अनीति का विवेक छोड़, सब कुछ कर लेने को तत्पर हो जाता है। कोई पाप उसके लिए पाप नही रह जाता, कोई कर्म उसके लिए अकरणीय नही रह जाता। लिप्सा के प्रकाश मे उसे सभी मार्ग शुभ और सभी कर्म करणीय प्रतीत होने लगते हैं। परिग्रह इस प्रकार पतन का प्रचण्ड जल-चक्र है जिसमें फँसकर मनुष्य की नियति डूब जाने के अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाती है। लोभाध जन धन के लिए तन खो देते है, मन भ्रष्ट कर लेते है, स्वजन-परिजन के पराये हो जाते है, जीवन की ज्योति से दूर हो जाते है। परिग्रह क्या-क्या अहित नही करता है—विवेकहीन मानव का धन उसके लिए सच्चा सुखकर कभी नहीं बन सकता है। धन से सुन्दर, सुखद शैया तो मिल सकती है पर नींद नही। नींद का सम्बन्ध मानसिक शान्ति से होता है और इस शान्ति तथा परिग्रह का दूर का भी कोई नाता नही होता।

परिग्रह-प्रेत से रक्षा का सूत्र

इस भयंकर विनाशक परिग्रह की दुष्ट लीलाओं से परिचित हो जाने पर विवेकशील मन इससे त्राण के साधनों की खोज मे प्रवृत्त हो—यह बहुत स्वाभाविक

है। अपरिग्रह भावना की साधना मनुष्य के लिए परिग्रह के घातक प्रहारो के विरुद्ध एक समर्थ कवच सिद्ध होती है। जगत है तो इसमे भौतिक आकर्षण भी रहेगे अवश्य पर कोई इन तीव्र आकर्षणो के मध्य रहकर भी इनसे अप्रभावित रहना चाहे तो अपरिग्रह उसकी सहायता कर सकता है। शास्त्रो मे ऐसी पाँच भावनाओ का वर्णन मिलता है जो अपरिग्रह महाव्रत को रक्षित और पुष्ट करती है, विकसित करती है। इन भावनाओ का आराधक कभी परिग्रह-प्रपच का शिकार नही बन सकता, उसका आत्मिक उत्थान अवरुद्ध नही होता और वह सन्तोप-सागर मे अव-गाहन करता हुआ शान्ति की लहरो का आनन्द लेता रहता है। उसका मन स्ववश मे हो जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है, विवेक जागृत हो जाता है और सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा और शक्ति से वह सम्पन्न हो जाता है। एक अकेला अपरिग्रह ही अपने आप मे मानव-कल्याण की अपरिमित शक्ति रखता है।

अपरिग्रह महाव्रत की ५ भावनाएँ निम्नानुसार है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय सवर भावना
(२) चक्षुरिन्द्रिय सवर भावना
(३) घ्राणेन्द्रिय संवर भावना
(४) रसनेन्द्रिय सवर भावना
(५) स्पर्शनेन्द्रिय सवर भावना

स्पष्ट है कि उपर्युक्त भावनाओ का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियो से है। ये ऐन्द्रिक अनुभव ही भौतिक पदार्थो के प्रति आकर्पण उत्पन्न करते है, उसे तीव्र बनाते है और मनुष्य के मन मे उन्हें प्राप्त करने की ललक उठने लगती है। इस प्रकार वह परिग्रह के फेर मे पड जाता है। इन्द्रियो की प्रवृत्ति पर नियामक और नियन्ता बनकर ये भावनाएँ परिग्रह के घातक प्रहारो से मनुष्य की रक्षा करती है। इन्द्रियों के ये विषय सुन्दर-असुन्दर, मधुर-कटु दृश्य, शब्द, गन्ध, स्वादादि जगत मे सर्वत्र और राशि-राशि बिखरे हुए है। मनुष्य के लिए इन विभिन्न अनुभूतिया से सर्वथा दूर रहना कठिन है किन्तु इनके मध्य रहकर भी इनसे राग-द्वेष न करना ये भावनाएँ सिखाती है। इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत के पालन मे ये समर्थ सहायक सिद्ध होती हैं। आवश्यकता इन भावनाओ के माहात्म्य को स्वीकार करते हुए इन पर चिन्तन-मनन करने की है। यह वह मार्ग है जिससे मनुष्य के मन मे इन भावनाओ के प्रति आस्था भी जागृत होती है और इनके अनुपालन की सशक्त प्रेरणा भी मिलती है।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय सवर शब्द निःस्पृह भावना

इस भावना का सम्बन्ध श्रुति मे, कर्णेन्द्रिय अनुभूति से है। कर्णेन्द्रिय की प्रवृत्ति है—सुनना। कान जगत मे उत्पन्न और सुलभ शब्द, स्वर-ध्वनि को ग्रहण करते है और

उसकी प्रतिक्रिया होने लगती है—मन में। मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुरूप ये शब्द या स्वर मधुर और प्रिय भी हो सकते है और कटु तथा अप्रिय भी। जब व्यक्ति की खुशामद की जा रही हो, उसका कारण-अकारण प्रशस्ति गान किया जा रहा हो—सम्बन्धित शब्द उसे बड़े मधुर लगते है। एक कामना उसके मन में उठने लगती है कि यह प्रसंग जितना अभिवर्धित होता चला जाय उतना ही अच्छा है। वह विभिन्न प्रश्नादि पूछ कर भी वाचक के लिए ऐसी स्थिति बनाता रहता है कि यह तथाकथित मधुर प्रसग और आगे बढ़ता चला जाय, उसके अनेक प्रिय अंशों की पुनरावृत्ति होती चली जाय। अपनी प्रशसा सुनने मे भी व्यक्ति को एक अद्भुत सुख मिलता है और इस सुख के लिए उसके मन का चप्पा-चप्पा लालायित होकर सजग हो उठता है। अपनी रुचि के अनुरूप सगीत की स्वर लहरियाँ, वाद्यों की झनकार, पक्षियों का कलरव, नदी की कल-कल, पवन की मर्मर ध्वनि आदि भी मनुष्य को रसानुभूति प्रदान करती है। जैसे मधुर शब्द आनन्दप्रद होते है वैसे ही कटु और अप्रिय शब्द मनुष्य के लिए दुखद भी होते है और वह इनसे दूर रहने की चेष्टा करता है इनका प्रतिकार करता है। परनिन्दा तो मिष्ठान से भी अधिक मधुर होती है। व्यक्ति इसमे बड़ा रस लेता है। खोद-खोदकर पूछता है और सविस्तार सुनने की कामना रखता है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के अपवाद कदाचित् कुछ ही सयमी जन हो सकते है। जगत मे अनेकानेक मधुर-कटु, प्रियाप्रिय स्वर है—शब्द है, और श्रवणेन्द्रिय का उनके सम्पर्क में आना भी अतिस्वाभाविक है। शब्द का त्याग किया जाना सहज सभाव्य चाहे न हो, किन्तु प्रतिक्रियास्वरूप शब्दो के प्रति उपजने वाले राग-द्वेष का त्याग अवश्य किया जा सकता है। हम तटस्थ-भाव का निर्वाह कर सकते है। यह मुनिजन के लिए तो एक आवश्यक सयम है। प्रिय स्वर पर रीझना अथवा अप्रिय शब्द पर रोष करना साधु का स्वभाव नहीं। उपेक्षापूर्वक, तटस्थ और अप्रभावित रहना ही श्रोत्रेन्द्रिय सवर भावना का मूल मंत्र है। साधक को चाहिये कि वह शब्दों मे अपनी बुद्धि व मति को लगाए ही नहीं, इन प्रिय-अप्रिय शब्दो मे मन को न रमाए। राग-द्वेष-जागरण की सभावना ही इससे समाप्त हो जायगी। साधक शब्दों को सुने, पर सुनकर—

न तेसु रज्जियव्वं, न सज्जियव्व, न रूसियव्व, न हीलियव्व[1]

अर्थात् न उनमे राग उत्पन्न होने दे, न रोष करे, न किसी को डांट-फटकारे, अथवा निन्दा करे। जो इस प्रकार राग-द्वेष रहित होकर 'सम' बना रहता है—वही वीतराग है। श्रोत्रेन्द्रिय सवर भावना का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने मन को इस प्रकार की तटस्थता की शिक्षा दे।

---

१ संवरद्वार २

(२) चक्षुरिन्द्रिय—रूप-निःस्पृह भावना

नेत्र मानव-मन को अनेकानेक सुन्दर-असुन्दर स्थितियों के सम्पर्क में लाते हैं। चक्षु ही दृश्यमान जगत से मनुष्य का परिचय कराते हैं। जगत में अनेक मन-भावन दृश्य, वस्तुएँ और व्यक्ति हैं जिन्हें देखकर मनुष्य आनन्दित होता है उनमें अनुरक्त होता है। इनके विपरीत अनेक कुदर्शी वस्तुएं ऐसी हैं जो घृणादि उपजाती हैं। दोनों का ही परिणाम घातक है।

देखना, मानव की सहज प्रवृत्ति है। यह न स्वाभाविक है न आवश्यक कि वह कुछ देखे ही नहीं। वह देखे किन्तु किसी प्रिय या सुन्दर वस्तु के प्रति आकर्षित होकर उसके प्रति अनुरक्त होना अथवा असुन्दर के प्रति रोष करना अनुपयुक्त है। तटस्थ भाव से समस्त दृश्यमानों का अवलोकन करना ही साधक का धर्म है।

वस्तु कोई भी स्वयं में सुन्दर अथवा असुन्दर नहीं होती। जो वस्तु किसी एक के लिए अतिसुन्दर है, वह किसी अन्य के लिए असुन्दर भी हो सकती है। जो हमें आज सुन्दर प्रतीत होती है, वही वस्तु कल संभव है कि हमें ही सुन्दर न लगे। यह सौन्दर्य वस्तु का गुण न होकर दर्शक की दृष्टि में निवास करने वाला एक तत्त्व है। अतः रूपारूप-आधारित प्रतिक्रिया सर्वथा मिथ्या है। साधक जन के लिए यह अपेक्षित है कि स्थितप्रज्ञ सा वह चक्षु के समक्ष आये दृश्यों को देखता रहे और मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि वस्तुओं को देखकर उसमें राग-द्वेष उत्पन्न न हो। यही चक्षुरिन्द्रिय संवर भावना का मूल मंतव्य है।

(३) घ्राणेन्द्रिय संवर भावना

'घ्राण', अर्थात्—नासिका द्वारा हमें वस्तु की गंध से परिचित होने का अवसर मिलता है। सुगंध हमारे मन को प्रफुल्लित कर देती है और उस सुगन्धित पदार्थ के प्रति एक अनुराग जागृत कर देती है। इसके विपरीत दुर्गन्ध हमारे मन को अप्रिय ही नहीं, कष्टकर भी लगती है और वस्तु के प्रति घृणा उपजाती है। यही सहज स्वाभाविक मानव वृत्ति है, किन्तु इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करना, सम-भाव के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध के प्रति राग-द्वेष न करना साधक की एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

वस्तुस्थिति यह है कि सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध वस्तुविशेष का स्थायी गुण-धर्म नहीं है। सुगन्धित वस्तु कब दुर्गन्धपूर्ण या गन्धहीन हो जाय, अथवा दुर्गन्धित वस्तु में कब सुगन्ध आने लग जाय—कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर गन्ध के आधार पर वस्तु के प्रति राग-द्वेष या प्रीति-घृणा करना कैसे उचित कहा जा सकता है? तीर्थंकर भगवती मल्लि की स्वर्ण प्रतिमा में सुगन्धित, सुस्वादु खाद्यपदार्थों का एक ग्रास प्रतिदिन डाला जाता था। विवाहोत्सुक अनेक नरेशों के एकत्रित होने पर जब प्रतिमा को खोला गया तो वह संचित सुगन्धित खाद्य पदार्थ विकृत होकर भयंकर दुर्गन्ध व्याप्त करने लगा। यह नियति है सुगन्धपूर्ण अनुभव होने वाले पदार्थों की। ऐसी **सुगन्ध पर मुग्ध होना सर्वथा मिथ्या है**

ज्ञातासूत्र का एक दृष्टान्त है जो यह सिद्ध करता है कि समस्त पुद्गल गुण-धर्म में परिवर्तनशील है और उनसे इन तात्कालिक गुणों के आधार पर राग-द्वेष करना व्यर्थ है। राजा जितशत्रु का मंत्री सुबुद्धि इसी प्रकार का तटस्थ मनोवृत्ति वाला पुरुष था। नगर के समीप की खाई के पानी की सडाध से जब राजा एव अन्य राजपुरुष उद्विग्न हो उठे, तब भी सुबुद्धि सर्वथा सामान्य बना रहा। राजा को आश्चर्य हुआ और उसकी जिज्ञासा को तुष्ट करते हुए सुबुद्धि ने उत्तर दिया कि परिवर्तन पुद्गलो का स्वभाव है, अत: जल की इस दुर्गन्ध पर मन मे घृणा लाना व्यर्थ है। यही जल कभी स्वच्छ और सुगन्धित भी हो सकता है। राजा को सहसा उसके कथन पर विश्वास न हुआ। कालान्तर मे मत्री ने राजा को अपने यहाँ निमंत्रित किया। भोजन के साथ जल भी राजा को रुचिकर लगा। मंत्री ने स्पष्ट किया कि यह उसी खाई का दुर्गन्धपूर्ण जल है जिससे कभी आपने नाक-भौह सिकोडकर घृणा की थी। अमुक प्रक्रिया द्वारा मत्री ने उस जल को शुद्ध कर दिया था। अस्तु, गध के आधार पर वस्तु को हेय या प्रेय मानना; उसके प्रति राग अथवा द्वेष विकसित करना समाचीन नही है। साधक को चाहिए कि वह पुद्गलो के पूरण-गलन धर्म का ध्यान रखते हुए तटस्थवृत्ति के साथ समत्वयोग की साधना मे रत रहे और आत्मा को प्रत्येक परिस्थिति मे आनन्दित ही रखे। सुगन्ध और दुर्गन्ध—दोनो ही स्थितियों मे समभाव बनाये रखे—जो स्थितप्रज्ञ का स्वभाव है।

(४) रसनेन्द्रिय सवर भावना

अन्य ज्ञानेन्द्रियो का एक-एक ही धर्म होता है (यथा—नेत्र का देखना, कान का सुनना आदि) किन्तु रसनेन्द्रिय अर्थात्—जीभ के दो धर्म है—स्वाद लेना तथा बोलना। बोलने के सम्बन्ध मे सयम की भावना का विषय भाषा समिति के अन्तर्गत होता है। हम जिन खाद्य पदार्थों का सेवन करते है, उनके स्वाद से जीभ ही हमें परिचित कराती है। पदार्थ सरस, स्वादिष्ट भी हो सकते है और नीरस या अप्रिय स्वाद वाले भी। साधक के मन मे अच्छे स्वाद के प्रति अनुराग या आकर्षण भी नहीं उठना चाहिए और बुरे स्वाद के प्रति जुगुप्सा या विकर्षण भी नही।

यहाँ यह प्रश्न भी चिन्तनीय है कि आहार का मूल प्रयोजन क्या है ? वस्तु-स्थिति यह है साधक को अपनी साधना हेतु शरीर को पर्याप्त सशक्त रखने मात्र के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए, सरसता से रसना को तुष्ट करने के प्रयोजन से नही।[1] चाहे श्रेष्ठ व्यजन मिले और चाहे तुच्छ, स्वादहीन पदार्थ—दोनो ही स्थितियो मे साधक के लिए यह निष्कर्ष ही अनिवार्य है कि न तो वह काम्य पदार्थ है और न यह उपेक्षणीय है। मुझे तो जीवनयात्रा चलाने के लिए कुछ भी आहार

1 न रसट्ठाए भुञ्जिज्जा जाय मायाए संजए।

रूप मे चाहिए, अतः जो भी प्राप्य है—उसे ग्रहण करना है। उदर-पूर्ति मात्र के लिए आहार करना है।

अणासयमाणे लाघविय आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवई।[1]

भोजन के समय जो रस का निग्रह कर अस्वादभाव से आहार ग्रहण करता है, वह भोजन करते हुए भी कर्मो को क्षीण करता है और आहार करते हुए भी तपस्वी है। आवश्यकता इसी बात की है कि वह स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करले। यह 'रस-विजय' सभी विजय का मूलाधार है—'**सर्वजित जिते रसे**'। जिसने रसना पर विजय प्राप्त कर ली उसने सब कुछ जीत लिया।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना

शीतल-उष्ण, सुकोमल-कठोर, सुखद-दुःखद अनेक स्पर्श इस जगत मे है जो हमारे कलेवर के सम्पर्क मे आकर सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभूतियाँ जागृत करते हैं—मन मे चाचल्य अथवा शैथिल्य का सचार करते हैं। कभी शीतल-मद पवन आकर प्रफुल्लित कर जाती है तो कभी झझावात आकर आतकित कर जाते है, कभी लू की तप्तपवन आकर झुलसा जाती है। कठोर चट्टानो का खुरदरा स्पर्श भी होता है तो निर्मल, शीतल जल का सुखद स्पर्श भी होता है। साधक इन सभी सुखद और दुखद स्पर्श-स्थितियो मे सदा सम बना रहे—यह आवश्यक है। शीत व ताप की अधिकता अथवा न्यूनता से उसे सदा अप्रभावित ही रहना चाहिए, अन्यथा प्रमाद मे घिर कर वह साधना पथ पर अग्रसर न हो सकेगा। सुखद स्पर्शो से मोह भी उतना ही घातक है, जितना दुखद स्पर्शो से बचाव की प्रक्रिया। शरीर को सुखानुभव देने वाले स्पर्श आत्मा को कुण्ठित कर सकते है। भयकर ताप, लू आदि के कष्टो से विचलित होकर शीतल पवन के आगमन की प्रतीक्षा मे आतुर हो जाना भी अनुपयुक्त है। जैसी भी परिस्थिति हो समत्व भावना के साथ उसका स्वागत करते हुए उसमें जीना और साधना यात्रा को शिथिल न होने देना—यही साधक का धर्म है। कर्कश, कठोर, उष्ण और दुखद स्पर्श साधक को धैर्ययुक्त करते है, अचचल बनाते है और सहिष्णुता की शक्ति प्रदान करते है। □

१३

बारह वैराग्य भावना

साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावना श्रयेत्

—योगशास्त्र, ४-५५

निर्ममत्व-मन में ममता का भाव जगाने का आधार।
निर्ममत्व को जागृत करना बारह वैराग्य भावना-सार।।

भावनाएँ – शुभ और अशुभ अपने इन दो रूपों में मिलती है। शुभ भावनाएँ जीवन को सुख-शान्ति से पूर्ण बनाती है, सद्गति में सहायक होती है, अतः ये श्रेय है। अशुभ भावनाओं के परिणाम भी अशुभ ही होते हैं। इनसे जीवन कष्ट और क्लेशपूर्ण हो जाता है, अतः ये हेय है। वैराग्य भावनाएँ भी शुभ वर्ग के अन्तर्गत परिगणित होती है। पञ्च महाव्रतो की २५ भावनाएँ सविस्तार वर्णित की गयी है जिनका सीधा सम्बन्ध श्रमण-जीवन से है। वस्तुतः महाव्रतो पर चिन्तन और उनके अनुपालन में सहायक रूप मे ही ये भावनाएँ हैं। सद्गृहस्थ श्रावकजन के लिए भी इनका यथाशक्ति अनुपालन अपेक्षित ही है। निर्दोष जीवन के लिए यह एक आवश्यक मार्ग है। महाव्रतो के साथ-साथ वैराग्य भावनाओ का विवेचन भी आगमादि शास्त्रो मे प्राप्य है, अन्तर यही है, कि महाव्रतो की भावनाओ का व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण मिलता है, जबकि वैराग्य भावनाएँ बिखरी-बिखरी अवस्था मे है। आगमो मे तो २५ भावनाओ का स्वरूप भी व्यवस्थित नहीं है, किन्तु परवर्ती, आगमोत्तर ग्रन्थो मे उन्हे क्रमबद्ध कर दिया गया है। वैराग्य भावनाओ के लिए यह प्रयास नहीं हो पाया।

'वैराग्य भावना' अनित्यादि बारह भावनाओ के लिए कोई शास्त्रीय, सामूहिक नाम नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि इन भावनाओं के विवेचन एवं प्रस्तुतीकरण की किसी वैज्ञानिक पद्धति के अभाव से इनको किसी एक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत संगठित करना तनिक कठिन है। यह सत्य है कि ये समस्त द्वादश भावनाएँ अनासक्ति या वैराग्य का मूल आधार ग्रहण किये हुए है और इस औचित्य के कारण इन्हें "द्वादश वैराग्य भावनाएँ" कहा जाना अयुक्तियुक्त नहीं समझा जा सकता।

'ध्यानशतक' के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहु और आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन द्वारा भी इस भावना-समूह के लिए उक्त नाम—"वैराग्य भावना" स्वीकारा गया है।[1] जगत के अनित्यादि स्वभाव को भलीभांति समझकर उनके प्रति अनासक्त, अभय और आशंसारहित हो जाना वैराग्य भावना का लक्षण है। इसमें साधक ध्यान में निश्चलता प्राप्त करता है।[2] ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते रहने से विरक्त साधक की बुद्धि स्थिरतर होती है, मोह की व्याकुलता घटती है, धर्माध्यात्म स्थैर्य बढ़ता है।[3]

चित्त में निर्वेद जागृत कर उसका परिपाक निर्मित करने वाली छोटी-बड़ी सभी भावनाएँ वैराग्य भावना के अन्तर्गत मान्य है और इस दृष्टि से इन भावनाओं की कोई निर्धारित संख्या सम्भव नहीं है। तथापि, विद्वज्जनों ने उन असंख्य चिन्तन-धाराओं और भाव-तरंगों का वर्गीकरण किया है और इस प्रकार बारह भावनाएँ या 'द्वादश अनुप्रेक्षा' के रूप में एक संगठित स्वरूप प्रस्तुत किया है।

ये द्वादश वैराग्य भावनाएँ है—

(१) अनित्य भावना	(२) अशरण भावना	(३) संसार भावना
(४) एकत्व भावना	(५) अन्यत्व भावना	(६) अशुचि भावना
(७) आश्रव भावना	(८) संवर भावना	(९) निर्जरा भावना
(१०) धर्म भावना	(११) लोक भावना	(१२) बोधिदुर्लभ भावना

द्वादश वैराग्य भावनाओं के उपर्युक्त क्रम में भी एक विशिष्ट सार्थकता है। ये भावनाएँ अभ्यास के क्रम से उच्च से उच्चतर स्थितियों पर साधक को प्रतिष्ठित करती चलती है। ये एक के बाद एक आने वाले उच्चतर सोपान है। साधक एक के अनन्तर आगामी सीढ़ी पर स्वतः चढ़ता चला जाता है। यह क्रमिक विकास ही इस व्यवस्था का वैशिष्ट्य है। □

---

१ ध्यानशतक, ३० एवं आदिपुराण, २१।९५

२ सुविदिय जगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भाविमयणो झाणं सुनिच्चलो होई — ध्यानशतक ३४

३ आदिपुराण आचार्य जिनसेन २१।१००

अनित्य भावना

मोह रहित जो है उसने ही किया सभी दुःखों का नाश ।
मोह करे तृष्णा की वृद्धि, तृष्णा जगत-वृद्धि का पाश ।।

'मोह' आत्मा का घोरतम शत्रु है जो उसे मुक्ति-पथ मे भटका कर जन्म-जन्म के चक्र मे ग्रस्त कर देता है । यही मोह सासारिक कष्टो, चिन्ताओ और भय का जनक है । श्रमण-शिरोमणि भगवान महावीर ने भी यही संकेत किया है कि जिसने मोह को नष्ट कर दिया, उसने अपने सभी दुःखो को विदीर्ण कर दिया ।[1] जैसे सेनापति के मरते ही सारी सेना रणागण मे भाग जाती है—वैसे ही मोह के नष्ट हो जाने पर समस्त दुःख, क्लेश, भय, चिन्तादि भी दूर हो जाते है ।[2]

मोह से मिथ्यात्व जन्मता और विकसित होता है । जो अधर्म है, मोह उसी मे धर्म के होने का सभ्रम उत्पन्न कर देता है । मन यथार्थ से हटकर अयथार्थ मे ही सत्य की प्रतीति करने लगता है । यह मतिभ्रम है जो साधक के लिए घोर अनिष्टकर सिद्ध होता है । असुख को सुख जताकर मोह ही मानव को उसकी ओर आकृष्ट कर अग्रसर करता है और सच्चे सुख से उसे वंचित कर देता है । मिथ्या के इस प्रपच को खंडित किये बिना साधक की कोई गति संभव नहीं है, और इसके लिए इस प्रपंच के सूत्रधार—'मोह' पर प्रहार ही एक मात्र मार्ग है ।

वस्तु को उसके यथार्थ गुण-धर्म के साथ पहचानना विवेक है और मोहजनित मतिभ्रम इस विवेक को निश्चित रूप में मन्द कर देता है । मोहाविष्ट व्यक्ति विवेक या सम्यक् बुद्धि से वंचित होकर अनित्य को नित्य और नित्य को अनित्य वस्तु मानने के विनाशक भ्रम में ग्रस्त हो जाते हैं और उन्हें अपनी इस भ्रान्ति का भी आभास नहीं हो पाता । [illegible] [illegible]ओं में वह शाश्वतता की प्रतीति करने लगता है । [illegible] से ही [illegible] मोह का आवरण विच्छिन्न हो सकता है । अनित्य भावना का यही प्रयोजन है ।

१ दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो । —उत्तराध्ययन, ३२/८

२ दशाश्रुतस्कंध ५/१[illegible]

यह जगत पुद्गल-निर्मित है। ये सभी पौद्गलिक पदार्थ अनित्य (सदा न रहने वाले), अर्थात्—नश्वर हैं। यह यथार्थ है कि धन-वैभव, घर-सम्पदा, प्रिय-स्वजन-परिजनों के स्नेह सम्बन्ध—सभी अनित्य है, क्षणभंगुर है। शरीर, रूप, यौवन, बल आदि पर आसक्ति व्यर्थ है। ये अमर नही, अजर नहीं—ये तो नश्वर है। मोह का छद्म ही इन्हे चिरस्थायी दिखाता है और अन्तत. नश्वरता को प्राप्त कर ये ही विगय अनन्त दुख के कारण बन जाते है। आसक्ति का नशा मिथ्या अनुभव देता रहता है कि ये विषय अपार सुखदायी है और मनुष्य इनमे अनुरक्त होता है।

मनुष्य के लिए सर्वाधिक आसक्ति के विषय है—शरीर, यौवन, धन, परिजन और सत्ताधिकार। निज शरीर को मनुष्य अति सुन्दर और जीवनाधार मानकर आसक्ति-वश उसे रक्षित, सुन्दरतर, स्वस्थ बनाये रखने के उद्यम में प्रवृत्त रहता है। इस शरीर की अमरता और अजरता की दृढ कामना करने लगता है। शरीर का धर्म जरा भी है, मृत्यु भी है, किन्तु मनुष्य का मतिभ्रम उसे इन तथ्यो तक पहुँचने नहीं देता।

अनित्य भावना मे सर्वप्रथम शरीर सम्बन्धी इसी मोह का भंग करने की प्रेरणा दी गयी है—"शरीर को रोगग्रस्त समझो, यौवन को जराक्रान्त (बुढ़ापे से आक्रान्त) समझो, ऐश्वर्य को अन्ततः नाशवान समझो और मृत्यु को जीवन का चरम अन्त समझो।"[1] क्षरण एव गलन ही शरीर का (जन्म के ठीक अनन्तर) स्वभाव है और इसी कारण यह 'शरीर' कहलाता है।[2] फिर यह देह रोग-मन्दिर भी है। शरीर मे जितने रोम-कूप है उसमे दुगुनी संख्या में रोग है जो इसी शरीर में निवास करते हैं। मनुष्य के तनिक मे असावधान होने पर असमय ही ये रोग-शत्रु हावी होकर दबोच लेते है और शरीरान्त हो जाता है। उसका यौवन और शक्ति तो क्षीण होती ही चली जाती है, उसका रूप भी ढलता जाता है। फिर ऐसे शरीर की वास्तविकता पर परदा डालकर उसकी अवास्तविकताओं पर रीझे रहना कैसे लाभप्रद हो सकता है। भगवान महावीर ने **'इम सरीरं अणिच्चं'**—कहकर शरीर को नश्वर या अनित्य बताया है और इस में आनन्द की अनुभूति को भ्रममात्र कहा है। चिन्तक कवि कबीर ने भी चिन्तन की गहनता मे पैठकर इसी सत्य को पाया और उजागर किया—

> पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
> देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

इसी प्रकार स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, स्वजन-परिजन के स्नेह सम्बन्धो को भी मोहवश ही मनुष्य आनन्दप्रद मानता है और उनमे अनुरक्त होता है। अन्यथा ये

---

१ वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम्।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम्। —ज्ञानार्णव

२ प्रतिक्षण शीर्यन्त इति शरीराणि ५/१ चटीका आर्य अभयदेव

सभी प्राणी भी नाशवान है और वह व्यक्ति भी नाशवान है फिर सम्बन्धों की अमरता का प्रश्न ही कहाँ है? यह कोरा भ्रम है। ऐसे ही धन-सम्पदा, ऐश्वर्यादि सब-कुछ अनित्य है। ये सभी भौतिक सामग्रियाँ पुद्गल हैं और गलन, क्षरण एवं परिवर्तन उनका सहज स्वाभाविक धर्म है। उनकी स्थिरता का विश्वास आत्म-छलना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। व्यक्ति आज सम्पन्न है, कल वह विपन्न हो सकता है। आज किसी का भवन अतिसुन्दर, अत्युच्च है और कल कोई भूकम्प आकर उसे ध्वस्त कर सकता है।

इन सांसारिक विषयों की अनित्यता, क्षणभंगुरता और अस्थिरता को हृदयंगम कर उनसे यथार्थ परिचय स्थापित करना तथा उनके प्रति मुग्धया अनुरक्त न होना साधक के लिए अत्यावश्यक है। सांसारिक वैभव की असारता को मानस का सच्चा अनुभव बनाना आवश्यक है। चक्रवर्ती भरत ने इसी असारता को हृदयंगम करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। अनित्य भावना साधक को इसी प्रकार के मानसिक प्रशिक्षण के लिए तत्पर करती है। ☐

१५

अशरण भावना

अस्थिर जो हैं स्वयं न जा तू उनकी शरण।
टूटी नौका मरण भले ही दे ना देगी कभी तरण ।।

जो यथार्थ मे शक्तिमन्त है, वही किसी का संरक्षण कर सकता है। उसकी की शरण मे जाना बुद्धिमानी है। यह जगत तो नश्वर है, यहाँ कोई भी और कुछ भी शाश्वत नही, सब कुछ नश्वर है, क्षणभगुर है तो किस की शरण मे जाना। विवेकशील व्यक्ति अशरण अवस्था को सानन्द स्वीकारता है और आत्मशक्ति को ही स्वकल्याणार्थ विकसित करने मे प्रवृत्त रहता है। भूकम्प के धक्के से कभी भी ध्वस्त हो सकने वाला प्रासाद किसी के लिए क्या शरण बनेगा। यदि उसकी शरण मे जाने की कोई व्यक्ति भूल भी करेगा तो भवन के साथ वह भी नष्ट हो जायगा।

उत्तराध्ययन (१३।२२) मे चर्चा है कि जैसे किसी मृग-समूह मे से सिंह किसी मृग को उठा ले जाता है और शेष मृग विवशताभरी दृष्टि से देखते रह जाते है, उसकी रक्षा नही कर पाते—वैसे ही मनुष्य काल का ग्रास बन जाता है और उसके स्वजन-परिजन असहाय से, निरुपाय से हाथ मलते रह जाते है। मरण से वे उसकी रक्षा नही कर पाते। ऐसे स्वजन-परिजनों की शरण जाने मे विवेकशीलता नही कही जा सकती।

मृत्यु के विनाशक प्रभाव से कोई भी स्वरक्षा नही कर पाया है। राजा और रक, शक्तिमन्त और दुर्बल, स्वस्थ और रोगी, चिकित्सक और रुग्ण—सभी को काल का ग्रास बनना पड़ा है, पड़ता है। कभी शैशव मे ही मृत्यु किसी को उठा ले जाती है तो कोई भरे यौवन मे उमग भरे जीवन को अपूर्ण छोडकर चल देता है। क्रूर काल तटस्थ भाव से उन सभी को दबोच ले जाता है जिनका आयुष्य पूर्ण हो जाता है। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, नवविवाहित वर हो अथवा दो घडी पूर्व का जन्मा शिशु। उसे किसी पर दया-ममता नही होती। काल जब आता है। तो पूर्व सूचना भी नही देता। हँसते-खेलते जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। कोई अभी-अभी जीवित था और अब नही—ऐसा भी होता है। कोई भी अपनी या किसी अन्य की मरण बेला के विषय मे पूर्वज्ञान नही रखता यही तो जीवन की क्षणभंगुरता है

अस्थिरता और अनिश्चय है। निश्चय है तो बस यही कि जो जन्मा है वह मरण को अवश्य प्राप्त होगा और कोई भी उसका रक्षक न हो सकेगा। कोई सोचे कि मेरा अपार धन मुझे मरने न देगा, मेरे स्वजन-परिजन मेरी रक्षा कर ही लेंगे, मेरे आभारी वैद्यादि मुझे मृत्यु के मुख से खींच लाएँगे तो यह उसका भ्रममात्र है। ध्रुव सत्य तो यह है कि व्यक्ति न तो किसी अन्य के लिए शरण बन सकता है और न अन्य कोई उसके लिए शरणदाता का स्थान ले सकता है।

मृत्यु तो मृत्यु ही है, उसके पूर्व भी गंभीर रोगों की कठिन पीड़ा भी व्यक्ति को स्वयं ही सहनी पड़ती है। अपने प्रिय स्वजन-परिजन पीड़ा का कोई भी भाग स्वयं भोगकर रोगी के कष्ट को कम नहीं कर पाते। फिर कोई शरण देने की क्षमता वाला कैसे कहा जा सकता है। वे स्वयं अशरण है तो किसी के लिए वे शरण कैसे बन सकते है। मनुष्य की आत्मा ही उसकी सच्ची मित्र, हितैषी और आश्रय हो सकती है। यह आत्मा ही सर्वसुख और दुःख की मूल कही जाती है। सद्प्रवृत्तियो से आत्मा सुख का कारण बनती है, तो यही आत्मा दुष्प्रवृत्तियों से क्लेश की कारण भी बन सकती है। मनुष्य जब माता-पिता, बन्धु-बांधव, पत्नी-पुत्रादि स्वजनों से मोह छोड़कर अपनी आत्मा से लौ लगाता है तो वह अनाथ से सनाथ बन जाता है। वह स्वयं ही अपना स्वामी, शरणदाता बन जाता है। अन्य कोई प्राणी शरण हो ही नहीं सकता। आचार्य उमास्वाति के अनुसार—

> जन्म जरा मरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
> जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वाचिल्लोके ॥[1]

अर्थात्—जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भय, शोक, वेदना से पीड़ित इस संसार में जिनेश्वर देव के वचन, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म ही मनुष्य का शरणभूत हो सकता है, उसका रक्षक हो सकता है। एक प्रसंग में गौतम स्वामी ने भी इसी आशय का कथन किया—"जरा और मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एक ऐसा द्वीप है, ऐसी शरण है जहाँ आकर वे शान्तिपूर्वक रह सकते है त्राण पा सकते है।[2] कहा जाता है कि मृत्यु पर धन सम्पदा घर में पड़ी रह जाती है, पत्नी गृहद्वार तक साथ देती है अन्य स्वजन-परिजन श्मशान तक साथ देते हैं किन्तु धर्म प्राणी के साथ परलोक तक जाता है।[3] वहाँ वह उसके सुखों का विधायक और दुःखों में सहायक बनता है।

संसार में धर्म के अतिरिक्त सब कुछ नश्वर है। अतः वह अशरण है तू उनका विवेक करके धर्म के चार अंग दान, शील, तप और भाव का आचरण कर। जब तू धर्म की शरण में आयगा तो मुक्ति के सुख का अमृतरस पी सकेगा और शान्ति-सुधा-पान से तेरी जन्म-जन्म की प्यास मिट जायगी—

> शरणमेकमनुसर चतुरंगं परिहर ममतासंगम्।
> विनय ! रचय शिवसौख्यनिधानं शान्तसुधारसपानम् ॥ ■

---

१ प्रशमरति प्रकरण, १५२
२ उत्तराध्ययन, २३।६८
३ मनुस्मृति ३।२४१

१६

संसार भावना

जन्म-मरण और पुनर्जन्ममय घोर यातनामय संसार।
धर्मशरण और भोग-विमुखता इसका एक सुगम उपचार॥

अनित्यभावनानुसार जगत की प्रत्येक वस्तु नश्वर और परिवर्तनशील है, अनित्य है और अशरण भावना मे यह वर्णित किया गया है कि अत. ऐसी नश्वर वस्तुएँ नित्य और शाश्वत आत्मा के लिए शरण नही बन सकती। केवल धर्म ही—जो शाश्वत है, नित्य है—आत्मा के लिए शरण हो सकता है। जिनधर्म की शरण ग्रहण करने वाला जागतिक कष्टो और क्लेशो से मुक्त हो सकता है। मोहाविष्ट, अज्ञजन धर्म की महत्ता को नही समझ पाते, धर्म की शरण मे नहीं आते। परिणामत. वे ससार के दु खो से ग्रस्त रहते है।

यहाँ 'ससार' शब्द का अर्थ पौद्गलिक जगत से भिन्न तनिक शास्त्रीय रूप मे ग्रहण करना होगा। संसार प्रासगिक रूप मे ससरणशीलता का प्रतीक है। आत्मा का एक भव से अन्य भव मे, एक गति से अन्य गति मे भ्रमण—ससरणशीलता है, ससार है।[1] इस प्रकार संसार प्रतिक्षण परिवर्तन और गतिशील है। धर्म के मर्म को न समझकर उसकी शरण ग्रहण न करने वाले इसी प्रकार संसारग्रस्त रहते है। वे—"पुनरपिजननं पुनरपिमरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्"—अर्थात्—जन्मे, मरे, फिर जननी की गोद मे आये और फिर मृत्यु की गोद मे सोये। जन्म और मरण का यह चक्र उनके लिए अजस्र रूप से गतिशील रहता है। गतिशीलता का यही क्रम ससार है। संसार के अन्तर्गत आत्मा ४ गति, २४ दण्डक और ८४ लाख योनियो मे अनेक-अनेक बार गर्भस्थ होकर जन्म लेती और मरण भोगती रहती है। नरक की घोर यातनाएँ भोगती रहती है।

भोग्य विषयो का जो जीव त्याग नहीं करते वे जन्म-मरण के अनेकानेक दुःख सहन करते है, ससार-ग्रस्त रहते है। यह संसार चार प्रकार का वर्णित किया

---

१ संसरण ससार : भवाद भवगमन नरकादिषु पुनर्भ्रमण वा।

भाष्य

जाता है—षड्द्रव्यरूप—द्रव्य ससार है १४ रज्जू क्षेत्र मे व्याप्त है—यह क्षेत्र संसार है, दिन, रात, पक्ष, मास युक्त काल ससार है और चौथा है—भव ससार।[1] कर्मादि के परिणामस्वरूप जीव राग-द्वेषवशात् जन्म-मरण करता है—यही भवससार है।

एक अन्य व्यवस्थानुसार भी ससार के चार भेद किये जाते है, अर्थात्—ससार की चार गतियाँ है—

(१) नैरयिक ससार,
(२) तिर्यंच संसार,
(३) मनुष्य ससार और
(४) देव संसार

इन चार गतियो के २४ दण्डक है और इनमे ८४ लाख योनियाँ है जिनमे जीव बार-बार भटकता रहता है। लोक का कोई भाग बाल के अग्रभाग बराबर स्थल भी एसा न बचा है जहाँ जीव ने अनन्त बार जन्म मरण नही किया हो। इसी प्रकार वह प्रत्येक जाति, कुल, गोत्र और योनि मे अनन्त-अनन्त बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त होता रहा है। जन्म-मरण का यह चक्र जब अनादि काल से सचालित है तो जीव का प्रत्येक योनि मे और एक-एक योनि मे अनेक-अनेक बार जन्म लेना स्वाभाविक ही है। उसने निगोद मे भी जन्म लिया और तैतीस सागरोपम का बडे से बडा भव भी किया। निगोद मे जीवन बहुत छोटा होता है—एक श्वासोच्छ्वास का १/१७॥ भाग के बराबर भी यह जीवन हो सकता है।

निगोद भव मे बडी यातनाए और वेदनाएं होती है। इस मे जीव का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सुई की नोक बराबर स्थल में भी ऐसे अनेक असख्य शरीर आ जाते है और ऐसे एक-एक शरीर में असख्य जीव होते है। उस एक शरीर मे असंख्य जीवों का निवास होता है और असंख्य शरीर एक तिल बराबर स्थल मे समाये रहते है। अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्थिति जीव के लिए कितनी वेदनीय और कष्टप्रद होगी। जीव अनन्तकाल तक इस यातना को भोगता है। एक शरीर छोडता है तो ऐसा ही अन्य शरीर धारण करता रहता है। अनन्तकालीन यातना भोगने पर जब कर्म भार कुछ कम होता है तो जीव पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे जन्म लेता है। यहाँ वेदना-भार निगोद की अपेक्षा कम होता है और प्रत्येक जीव को पृथक-पृथक शरीर मिलता है। सब अपनी-अपनी वेदना कर्मानुसार भोगते रहते है। निगोद मे तो एक शरीर के समस्त जीवो को एक-सी वेदना सम्मिलित रूप मे भोगनी होती है और एक शरीर का मरण उन सभी जीवो का मरण हो जाता है। पानी, पृथ्वी आदि की स्थावर योनियो मे अपेक्षाकृत कम यातनाएँ हैं क्योंकि तब तक जीव का कर्म भार कुछ कम हो गया होता है।

---

१ दव्वसंसारे खेत्तसंसारे, कालसंसारे भवसंसारे — सूत्र

कर्मों के कुछ और भी हल्के हो जाने पर जीव स्थावर से त्रसयोनि में आ जाता है। क्रमश वह एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय योनियो मे जन्म लेता हुआ भवयात्रा मे अग्रसर होता रहता है। पचेन्द्रिय होकर भी जीव को मनरहित रहना होता है जो असज्ञी तिर्यच योनि होती है। कुछ पुण्योदय होने पर वह सज्ञी तिर्यंच योनि मे आ जाता है—हाथी, शेर नेवला, साँप आदि के देह धारण करता है, किन्तु इन योनियो मे वह क्रूरकर्म और हिंसा द्वारा फिर कर्म बाँध लेता है। और उसे नरक भोगना पडता है। हमारी पृथ्वी भूमि पर ही पशु-तिर्यच, मनुष्यादि का वास है। इस मध्य लोक या तिर्यक् लोक के तले सात भूमियाँ है जो नरक कहलाती है। नरक में जीवो को घोर यातना भोगनी होती है। अतिशय शीत और अतिशय उष्णता, असीम भूख और प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, जरा और रोग नाना प्रकार के कष्टो से जीव निरन्तर पीड़ित रहता है। उत्तराध्ययन मे मृगापुत्र-प्रसग मे इन वेदनाओं का सविस्तार वर्णन प्राप्य है। मृगापुत्र अपने भोगे हुए और आँखो देखे यातना दृश्यो को अपने माता-पिता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहता है कि मुझे अनेक बार बडे-बडे पात्रो मे डालकर अग्नि से भूना गया, तप्त बालु मे जलाया गया, भयकर सूअरो और कुत्तो से नुचवाया गया, तलवारो, भालो और लोह-दण्डा के प्रहार हुए, तृषाकुल वैतरणी पर गया तो जलधारा ने मुझे चीर दिया, अनेक बार चीरा-फाड़ा गया और मेरी चमड़ी उधेडी गयी आदि-आदि।

निगोद, तिर्यंच और नारक योनियो के भयकर कष्ट भोगते-भोगते जब जीव के कुछ पुण्यों का उदय होता है तो उसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है। यह मानव जीवन भी, किन्तु कुछ कम कष्टमय नही है। रोग, शोक, भय, चिन्तादि अनेक कष्ट हे। कोई शारीरिक दु खो से पीड़ित है तो कोई मानसिक दु खों से। पग-पग पर ये अनन्त वेदनाएँ खड़ी है—

सारीर माणसा चेव वेयणाओ अणतसो।[१]

मनुष्य इन वेदनाओं से आत्मरक्षा नही कर सकता। उसे कही शरण नही मिलती। बाहर की वेदना से वच भी जाय तो मन के भीतर बसी वेदनाएँ तो उसका पीछा छोड़ ही नही सकती। वैभव से दु ख-निवारण की अपनी समर्थता का भ्रम भी उसका तब टूट ही जाता है, जब रोग और मरण के प्रहार होने लगते हे और वह असहाय, निरुपाय सा रह जाता है।

ससार भावना का मूल प्रयोजन यही है कि जन्म-मरण और बार-बार भव-धारण के इस घोर यातनामय क्रम की ओर मनुष्य ध्यान दे और नरक, निगोद और तिर्यच योनियो मे पूर्वभूक्त कष्टो की कल्पना करे, जगत के वेदनाबहुल स्वरूप को समझे और इनसे छुटकारा पाने के लिए जागरूक होकर चेष्टा मे लग जाय। ससार के भयो और दु.खो का स्मरण कर मनुष्य भोगविमुख बन सके—ससार भावना का यही मूल प्रयोजन है। □

१ १९।४६

१७

एकत्व भावना

एक अकेली आत्मा तेरी, बाकी सब मिथ्या संयोग ।
एक यही तव मित्र-हितैषी, कर इसका कल्याणोद्योग ।।

मिथिला-नरेश नमिराज दाह ज्वर से पीडित थे और चन्दन-लेप का उपचार सुझाया गया । रानियाँ चन्दन घिसने लगी और ककणो की मधुर ध्वनि से राजा उद्विग्न हो उठा । निदान, रानियो ने एक-एक ककण रख शेप उतार दिया, ध्वनि रुक गयी । राजा सोचने लगा—जहाँ अनेक है वही टकराहट है, सघर्ष है । एकत्व मे शान्ति है । जहाँ आत्मा अकेली है वहा भी कोई संघर्प, वेदना, दु ख नही हो सकता आत्मा के साथ अन्य अनेक—धन-वैभव, स्वजन-परिजन का सयोग किया जाता है तभी संघर्ष जन्म लेता है । अनेकता अशान्ति की और एकता (एकत्व) शान्ति की मूल है । बाह्य जाल को छोड मुझे आत्मा के कल्याण का उपाय करना चाहिए ।

इस दृढ़ विचार से नमिराज की वेदना शान्त हो गयी । उसने समस्त ऐश्वर्यादि का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करली । रागद्वेपादि कषयो से निस्सग हो उनकी आत्मा एकाकी हो गयी । इन्द्र के यह कहने पर कि अपने शत्रुओ को जीतकर विजय-यश से सम्पन्न बनिये तो राजा नमि ने उत्तर मे कहा "हजार-हजार शत्रुओ को जीतकर विजय पताका फहराने वाले से भी बडा विजेता तो वह है जो अपनी एक आत्मा पर विजय स्थापित कर लेता है । आत्म-विजय ही परम विजय है ।[1] अविजित आत्मा मनुष्य की घोर शत्रु है ।[2] एकत्व भावना मे यह चिन्तन प्रबल होने लगता है कि दु खाग्नि मे जलते इस ससार मे एक आत्मा ही अकेला सारभूत तत्त्व है । शेष सारी सुखद प्रतीत होने वाली वस्तुएँ असार है, अस्थिर है, इनसे वियुक्त होना पड़ेगा । आत्मा ही हमारा साथ परलोक मे भी देती है । शरीर भी छूट जाता

---

१ जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगो जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ।। —उत्तराध्ययन . ९/३४

२ एगप्पा अजिए सत्तू ।

, पर आत्मा हमारा साथ नहीं छोड़ती। 'नाणदंसण संजुओ'—ज्ञान-दर्शन, विवेक और श्रद्धा आत्मा के लक्षण है। आत्मा के अतिरिक्त शेष सब कुछ बाह्य संयोग हैं; जैसे धन-वैभव, स्वजन-परिजन, सत्ता-ऐश्वर्यादि। ये संयोग है तो वियोग से भी अनिवार्यत: जुड़े हुए है। अपने-अपने समय पर ये हम से छूट जाते है। हमारे लिए ये अनित्य है। नित्य तो एक आत्मा ही है जो सदा साथ रहती है।

ये बाह्य संयोग रूप वस्तुएं अस्थिर और क्षणभंगुर है, अशरण है ये कभी हमारी अपनी नहीं हो सकती। मरण पर तो ये सब परायों की भांति पृथक हो ही जाती है। इन्हें अपना मानना एक भ्रम है और यही भ्रम व्याकुलता का जनक है। जो अपना नहीं है उसे अपना मानना कुछ क्षणों के लिए सुखद भले ही लगे, किन्तु अन्तत: भ्रम-निवारण पर वही घोर कष्टमय हो जाता है, क्योंकि वह वास्तव मे अपना नहीं है और पृथक होकर वह हमें वियोग की पीड़ा में झोंक देता है।

अवास्तविक को वास्तविक मान बैठना दु:ख का कारण बन जाता है। नकली को असली मानने की भूल इसी प्रकार भी हुआ करती है। आत्मा ही वास्तविक है, अन्य सभी तो कल्पित है, अयथार्थ है। आत्मा की वास्तविकता की उपेक्षा और कल्पित भौतिक साधनों को सुख का मूलाधार मानने मे विभ्रम ने ही तो जगत में अनन्त दु:खों की सृष्टि की है। एक आत्मा को छोड़ शेष सब कुछ पराया है, अपना नहीं है। एकत्व भावना यही प्रेरणा देती है कि इन बाह्य संयोगो को अपना मानना भूल है। ये वस्तुएँ जड़ हैं। आत्मा जैसी चेतन वस्तु के लिए ये अपनी कैसे हो सकती हैं। आत्मा पुद्गल से भिन्न है और चेतन होने के नाते वही, अकेली वही हमारी अपनी हो सकती है, और है।

मन को एकत्व भावना के चिन्तन का प्रशिक्षण देने के क्रम में यह आवश्यक है कि पहले बाह्य वस्तुओं की असारता, असत्यता और अनित्यता का अनुभव किया जाय। ये बाह्य संयोग अन्तत: वियोग उत्पन्न करते है, क्योंकि इनका संयोग अस्वाभाविक है, ये पर हैं, अपने नहीं। अत: हम से एक दिन छूट जायेंगे, यही अनित्यता है और यही वियोग दु:ख का कारण बनता है। अत: संयोग-सम्बन्धों के सर्वथा त्याग का अभ्यास किया जाना चाहिये—

संजोगामूला जीवेण पत्ता दुक्खपरम्परा।
तम्हा संजोगसम्बन्ध सव्वभावेण वोसिरे॥

दु:ख-मूलक ये संयोग भी दो प्रकार के होते हैं—

(१) बाह्य संयोग और

(२) आभ्यन्तर संयोग

मनुष्य जब जन्म लेता है तो बाह्य संयोगो से सर्वथा मुक्त होता है। उसकी किसी से ममता नहीं होती राग-द्वेष नहीं होता इस अवस्था में जो संयोग होते

वे उसके आभ्यन्तरिक संयोग होते है। वह पूर्व भव के कषाय, कर्मादि का समुच्चय अपनी आत्मा के साथ लेकर आता है। इन संयोगों के कारण ही विभिन्न योनियो मे जीव का भ्रमण बना रहता है।

बाह्य संयोगो से शून्य शिशु जन्म से किसी को अपना नही मानता, पर धीरे-धीरे उसकी क्षुधा शान्त करने वाली, पालन-पोषण करने वाली माता के प्रति उसमे ममत्व जागृत होता है जो क्रमश अन्य स्वजनो मे व्याप्त होने लगता। उसे खिलौने प्रिय लगने लगने लगते है और उसकी ममता का अधिक विस्तार होने लगता है। बडा होने पर स्वैच्छिक आधार पर सामाजिक सम्बन्ध बढने लगते है। मित्र-मण्डली बनती है, विवाह होता है, परिवार अस्तित्व मे आता है, धन-सम्पदा भी बनती है और इस प्रकार धीरे-धीरे बाह्य संयोगों का अच्छा-खासा जमघट लग जाता है। इस जजाल मे ग्रस्त होकर वह अपनी आत्मा को विस्मृत ही कर देता है। मरण के समय ये सभी संयोग वियुक्त हो जाते है और दुख के कारण बन जाते है। उसे शोक होने लगता है कि उसकी सभी प्रिय वस्तुएँ यही छूटी जा रही है।

यह कटु सत्य है कि राजा-बादशाहो का अतुलित वैभव और अत्यधिक प्रिय जन भी यही छूट जाते है और उन्हे परलोक मे अकेला ही जाना होता है। अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मो से भले-बुरे फल भी वहाँ अकेले ही भोगने होते है। वहाँ कोई उसका सहयोगी या सहगामी नही बनता—

'एगो सयं पच्चणुहोई दुक्खं, पर भव सुन्दर पावगं च।'

जीव जब परलोक से आकर जन्म लेता है, तब भी अकेला आता है और जब इहलोक त्यागकर मरण पर परभवहेतु गमन करता है, तब भी अकेला ही जाता है—कोई वस्तु या व्यक्ति उसके साथ न आया और न ही जाता है। जगत के शुभाशुभ कर्म भी वह स्वयं ही अकेला करता है और परभव मे उनके प्रतिफल भी वह अकेला ही भोगता है। सभी को अपने-अपने कर्म स्वय ही भोगने पड़ते है। कोई भी किसी अन्य के कर्मफलों का भागीदार नही बन पाता। ऐसी स्थिति मे मनुष्य के लिए यह सोचने का कोई औचित्य ही नही है कि वह किसी का है, अथवा कोई उसका है।

आचाराग (१।३।३) मे कहा गया है कि हे पुरुष! हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है, तेरा मित्र तेरे भीतर है। बाहर तू कहाँ मित्रो की खोज कर रहा है? तू अकेला है। इसी ग्रन्थ मे कहा गया है—

एगो अहमंसि न मे अत्थि कोई
न याहऽमवि कस्स वि।

अर्थात्—मै अकेला हूँ। इस संसार मे मेरा कोई नही और मै किसी का नही। इसलिए मुझे अपनी आत्मा का हित करना चाहिए जिससे कि मै परलोक मे जाकर सुखी बनूं। आत्महित का अवसर कठिनाई से मिलता है, अत सर्वप्रथम आत्मा के हित और कल्याण की बात सोचनी चाहिए।

आत्मा का हित इसमें है कि वह अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप को पहचाने और रात-दिन यह धारणा करे कि—मैं (आत्मा) अकेला हूं, शुद्ध स्वरूपी हूँ, वास्तव में अरूपी हूँ। ज्ञान-दर्शन ही मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त बाह्य जो दृश्यमान है—माता-पिता, पत्नी-पुत्र, धन-वैभवादि वे सब अन्य है, पर है, मेरा अपना शरीर भी मैं नहीं हूँ। इस प्रकार आत्मा के एकत्व का अनुभव करने से आत्मा की महत्ता बढती है और शरीर की ममता घटती है। बाह्य संयोगों का बन्धन शिथिल होता है और आत्मा की ओर अग्रसर होने की गति तीव्र होती है। □

१८

अन्यत्व भावना

आत्मा से है भिन्न अनात्मा तन जो जड़ है, नश्वर है।
इसे न अपना मान, न कर अनुराग-यही विवेक-स्वर है॥

एक अकेली आत्मा ही अपनी है—शेष सारे बाह्य संयोग मात्र हैं जो पराये हैं। यह एक ध्रुव सत्य है, शाश्वत तथ्य है। इस सिद्धान्त के पूर्वार्द्ध कि आत्मा अकेली है, अकेली आयी है और अकेली ही जायगी—इसी के हितार्थ मनुष्य को सचेष्ट रहना चाहिये आदि का चिन्तन एकत्व भावना के अन्तर्गत किया जाता है। उत्तरार्द्ध तथ्य अन्यत्व भावना के अन्तर्गत प्रमुख चिन्त्य विषय बनता है कि आत्मा के अतिरिक्त शेष सब कुछ 'पर' है, अन्य है। यही अन्यत्व है जो अनात्म तत्व को स्पष्ट और पृथक पहचानने की अनिवार्य अपेक्षा रखता है।

आत्मा और अनात्मा की पृथक-पृथक पहचान के लिए विवेक की आवश्यकता है जो हंस के 'नीर-क्षीर विवेक' के समान है। व्यक्ति जब 'मैं' कहता है—तो 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग किस संज्ञा के लिए किया जाता है—यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या उसकी देह 'मैं' है। नहीं, यदि ऐसा होता तो यह मेरा हाथ है, यह मेरा शरीर है आदि वाक्य सार्थक, सटीक और औचित्यपूर्ण नहीं माने जाते। 'यह मेरा शरीर है'—से स्पष्ट है शरीर से भिन्न कहीं 'मैं' की सत्ता का अस्तित्व है। 'मैं देह हूँ'—इस बुद्धि का नाम अविद्या है। 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ'—इस प्रकार की निर्मल बुद्धि ही विद्या है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥[१]

यह सत्य है कि जो जिस रूप में किसी का चिन्तन करता है उसके लिए उसका वही रूप प्रतिष्ठित हो जाता है। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'—में इसी सत्य का उद्घाटन हुआ है। जो अपने शुद्ध स्वरूप की

---

१ अध्यात्म रामायण : अयोध्याकाण्ड, ३३

अनुभूति करता है, वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है और जो अशुद्ध रूप का अनुभव करता है उसे अशुद्ध भाव ही प्राप्त होता है।[1] देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हुए उसे परम शुद्ध, निर्मल, सिद्ध स्वरूप में यदि हम अनुभव करें तो हमारा चिन्तन होगा—'**अप्पा सो परमप्पा**', अर्थात्—आत्मा सो परमात्मा है।

एक अत्यन्त मन्द-बुद्धि शिष्य जब गाथा का एक पद भी लम्बे समय के अभ्यास के पश्चात भी स्मरण न कर सका तो उसके साथी उस पर व्यंग करने लगे। क्षुब्ध होकर जब वह आचार्य के पास आया तो आचार्य ने कहा कि तेरा ज्ञानावरण ही अति सघन है अतः तुझे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। 'मा रुष ! मा तुष !' अर्थात्—किसी पर रोष न कर, किसी पर प्रसन्न भी न हो। शिष्य अब इसी को रटने लगा। कथन का वास्तविक स्वरूप भूलकर वह रटने लगा—'माष-तुष'। कालान्तर में वह इसके अर्थ पर भी विचार करने लगा कि माष—उड़द का दाना पृथक है और उसका छिलका (तुष) उससे पृथक है। इसी प्रकार देह और आत्मा पृथक-पृथक है। देह जड़ है, नश्वर है जबकि आत्मा ज्ञानमय है, शाश्वत है। इसी चिन्तन से उसके घन-घातिक कर्म नष्ट हो गये और वह केवली हो गया। जैन शास्त्रों के इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध का चिन्तन करने वाला शुद्ध को और अशुद्ध का चिन्तन करने वाला अशुद्ध को ही प्राप्त करता है।

यदि हम आत्मा और देह के पार्थक्य का अनुभव करेंगे, उस पर चिन्तन करेंगे तो हमारा चिन्तन साकार होकर ही रहेगा। जड़ को चेतन से भिन्न अनुभव कराने वाली यह पार्थक्य बुद्धि ही 'हंस विवेक' है। यही विवेक हमें अशुद्ध से शुद्ध की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाता है।

अन्यत्व भावना का चिन्तन-अनुचिन्तन अनेक प्रश्नों को उभारता है, यथा—मैं कौन हूँ ? जगत क्या है ? मेरा जगत से क्या सम्बन्ध है ? यह सम्बन्ध कब से है और कब तक रहेगा ? आदि-आदि। अज्ञानवश सामान्य जन के लिए जड़ और चेतन, आत्मा और जगत परस्पर एकाकार से प्रतीत होते हैं। जब उसमें भेदबुद्धि विकसित होती है तो वह जागतिक या पौद्गलिक पदार्थों से अपनी आत्मा का पृथक अस्तित्व अनुभव करने लगता है, जैसे राजहंस दूध-पानी के सम्मिश्रण में से दूध को पृथक कर लेने का सामर्थ्य रखता है। आत्मारूपी राजहंस विवेक के सहारे पुद्गलों से शाश्वत तत्त्व को पृथक अनुभव करने लग जाता है। इसी की पूरक स्थिति यह है कि वह शेष समस्त पदार्थों से यहाँ तक कि अपने शरीर से भी अन्यत्व स्वीकार करने लग जाता है। जो यह समझ लेता है, वह पहचान लेता है कि मैं कौन हूँ ? 'मैं शरीर नहीं, उसमें निवास करने वाली आत्मा ही हूँ। साथ ही यह 'मेरा' का सम्बन्ध मिथ्या है। यह मेरी पत्नी है, यह मेरा घर है, यह मेरी सम्पदा है—ऐसा

१ आचार्य कुन्दकुन्द गाथा १८६

कहा जाता है, परन्तु वास्तव मे पत्नी, घर, सम्पदादि कुछ भी अपनी वस्तु नही। आत्मा तो निरसंग, एकाकी, अकेली है। उसके लिये सभी बाह्य पदार्थ 'पर' है, अन्य है। अन्यत्व भावना का चिन्तक साधक जहाँ स्वभावनानुरूप यह चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा ज्ञान-दर्शन युक्त है, वही मेरी अपनी है, लोक, परलोक, नरकादि, सर्वत्र मेरे साथ रही है और रहेगी, वहाँ इससे आगे बढकर उसका चिन्तन इस दिशा मे भी अग्रसर होता है कि इस आत्मा के अतिरिक्त शेष सब कुछ मिथ्या है, जड है, पर है, अन्य है, ये संयोग से ही मेरे पास है और वियोगावस्था के आगमन पर सब छूट जायेंगे। मैं अकेली मेरी आत्मा के साथ ही रह जाऊँगा। ये पुद्गल तो मेरे सुख के ही साथी है। दुःख की घड़ी मे साथ छोड देने वाले हमारे सच्चे मित्र, हमारे अपने कैसे हो सकते है।

'मै' आत्मा हूँ जो अजर है, अमर है, शाश्वत है, अनश्वर है। यही मेरा स्वरूप है। मेरे कहलाने वाले माता, पिता, स्वजन-परिजन, मित्र-सखा सब पर है, अन्य है। इनसे ही मेरे चहुँ ओर जगत निर्मित हो गया है। यह जगत, इसके समस्त पदार्थ मुझसे सच्चा सम्बन्ध नही रखते। ये तो इहलोक के क्षणिक साथी है। मैने तो अनेक भवो मे यात्रा की और आगे भी करता रहूँगा। ये पूर्व मे न साथी रहे, न भविष्य मे रहेंगे। संयोगमात्र मे इनका मेरा अयथार्थ साथ हो गया है जो यही छूट जायगा। ये कोई भी मेरे लिए शरण नही हो सकते, सहायक या त्राता नही हो सकते।

मोहवश ही जीव इन जड बाह्य संयोगों को अपना मानता है और यही मोह दुःख का कारण बनता है। पथ के सहयात्रियों को जन्म-जन्म का साथी मान लेने का भ्रम ही अन्यत्व की उपेक्षा कराता है। यही वैराग्यजनक चिन्तन है। यह भौतिक, पुद्गल पदार्थों और स्वजन-परिजनो के प्रति व्यक्ति को अनासक्त बनाता है। आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ पराया है—यह सन्देश देने वाला धर्म व्यक्ति को एकागी और असामाजिक बनने की प्रेरणा देता हो—ऐसा नही है। वह तो मात्र यह कहता है कि समस्त सामाजिक व्यवहारो का निर्वाह करते हुए भी निर्लिप्त बने रहो, सम्बन्ध में आसक्त न बनो, राग या द्वेष की प्रवृत्तियो को न पनपने दो। संसार मे जीने की आदर्श विधि यही है कि जैसे धाय बच्चे का पालन-पोषण करती है किन्तु उसमे मातृवत् वात्सल्य और रागभाव बच्चे के प्रति विकसित नही हो पाता। साधक भी इसी प्रकार मात्र आत्मा को सर्वस्व मानकर शेष के साथ निर्विकार भाव से पर और अन्य मानकर ममत्व नही जोडता, निर्लिप्त रहकर उनके साथ सदा यथोचित व्यवहार ही करता है। उनके सन्दर्भ मे वह मोहाविष्ट नही होता। उनके प्रति उसका अन्यत्व भाव सदा सक्रिय बना रहता है।

□

१९

अशौच भावना

बाहर से जो लगे मनोहर, भीतर वह तन महा अशौच।
रोगों का घर, यह नश्वर है, इससे तनिक प्रीति ना सोच ॥

मेरी आत्मा ही मैं हूँ—यह शरीर नहीं। शरीर और आत्मा दो पृथक-पृथक वस्तुएँ है, जैसे घृत-पात्र और घृत दो भिन्न वस्तुएँ है। पात्र मे घृत रखा है वैसे ही शरीर के भीतर आत्मा का निवास है। घृत ही प्रमुख है, पात्र नही, वैसे ही आत्मा प्रमुख होती है, शरीर नही। इस आशय का बोध कराती है अन्यत्व भावना। पिंजर-बद्ध तोते को अपना पिंजरा दीर्घ प्रवास एवं ससर्गवश प्रिय लगने लग जाता है, उसमे मोह सा हो जाता है वैसे ही आत्मा का मोह इस देह पर होने लगता है। इस ममता का कारण वही दीर्घ सान्निध्य है। यह मोह, यह ममता, यह प्रेम अवांछनीय है, अनुपयुक्त है। आत्मा को उसके स्वभावगत आचरण से हटाकर यह नया प्रशिक्षण देना अशौच भावना के चिन्तन का मूल प्रयोजन है। शरीर के प्रति राग बंधन को शिथिल करना नितान्त अपेक्षित है।

अब प्रश्न यह आता है कि शरीर से यह प्रेम, यह राग किस आधार पर होता है। इस राग का मूल आधार शरीर का सुन्दर लगना है। सत्य यह है कि शरीर सुन्दर लगता ही है—वास्तव मे वह सुन्दर है नही। वह तो घोर अशुचिपूर्ण है, असुन्दर और व्याधि-सदन है। उसमे सौन्दर्य की प्रतीति हमारा भ्रम मात्र है और यही भ्रम हमें आकर्षण में डाल रहा है। इस रागाकर्षण से मुक्त होने के लिये शरीर के प्रति सौन्दर्यविषयक भ्रान्ति का दूर किया जाना आवश्यक है। यह तभी सभव है जब शरीर के असुन्दर और अशौच स्वरूप की वास्तविकता को उद्घाटित किया जाय।

शरीर के सौन्दर्य का सीधा सम्बन्ध उसके बाह्य रूप से हुआ करता है। गौर वर्ण, विशाल नेत्र, प्रभावशाली नाक नक्श, उपयुक्त देहयष्टि, शोभाशाली केश-राशि आदि—सामान्यत ये ही तो वे उपादान है जो शारीरिक सौन्दर्य (तथाकथित) को सरचित करते हैं किन्तु शरीर रचना मात्र इन्ही उपादानो तक सीमित नही होती गौरवर्णी सुगठित शरीर पर रीझने वालो को तनिक इस प्रश्न पर भी विचार

करना चाहिये कि ऐसे शरीर की आन्तरिक रचना कैसी है। उनका भ्रम दूर हो जायगा और वे सहमत हो जायेंगे कि सुन्दर प्रतीत होता यह शरीर वास्तव में अशौच है। यह राग और ममत्व का पात्र नहीं हो सकता।

मनुष्य अपना सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ मानता है, किन्तु यह कटु यथार्थ है कि पशु-पक्षियों का सौन्दर्य उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। उसके नेत्र मृग के समान विशाल और चंचल नहीं, उसकी नासिका तोते की चोंच सी सुन्दर नहीं। यदि ऐसा होता तो इन वस्तुओं को उपमान रूप में मानव सौन्दर्य वर्णन के लिए ग्रहण न किया जाता। उपमान सदा ही उपमेय की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। मयूर पंखों की शोभा, सिंह की क्षीण कटि, खरगोश की कोमलता, कोकिल का स्वरमाधुर्य, हाथी की मस्त गति क्या ऐसी कोई सुन्दरता मानव देह में है। तथापि मनुष्य अपने शरीरगत सौन्दर्य पर आत्ममुग्ध रहता है, यह मोह का भ्रम उसके लिए अहितकर है।

हमें यह भी जानना चाहिये कि गौर त्वचा के भीतर प्रच्छन्न शरीर का रूप कैसा है। इस तुच्छ साधन शरीर पर रीझ कर वह अपने सर्वस्व आत्मा को भी विस्मृत कर रहा है—वह शरीर अपने यथार्थरूप में कैसा है!

अमेध्यपूर्णे कृमिजाल-संकुले, स्वभाव दुर्गन्धिनि शौचवर्जिते—यह शरीर दुर्गंधित पदार्थों से भरा है, इसमें कीट-कृमि कुलबुला रहे हैं। स्वभावतः ही यह दुर्गन्ध-पूर्ण है। पवित्रता और शुद्धता इस में नाममात्र के लिए भी नहीं है। मल-मूत्र के भण्डार—इस अपवित्र शरीर को अज्ञानीजन ही सुन्दर मानते हैं, ज्ञानीजन इस अशुचिमय शरीर से विरक्त रहते हैं।[1] शारीरिक अशौच की व्याख्या करते हुए योग शास्त्र[2] में कहा गया है कि यह शरीर रस, रक्त, मांस, मेद, चर्बी, मज्जा, वीर्य, आँत, विष्टा आदि अशुद्ध पदार्थों का भाजन है। अतः इस शरीर को किस प्रकार पवित्र कहा जा सकता है? एक प्राचीन जैनग्रन्थ है तन्दुल वैचारिक। इस में अन्तरंग शरीर रचना एवं स्थितियों का वर्णन मिलता है। ग्रन्थ में विवेचन है कि शरीर में आठ सेर रक्त, चार सेर चर्बी, दो सेर मस्तक की मज्जा, आठ सेर मूत्र, दो सेर मल, आधा सेर पित्त, आधा सेर श्लेष्म और एक पाव वीर्य होता है। यह स्थिति है तथाकथित सुन्दर शरीर की। रक्त, श्लेष्म आदि इतने मलिन पदार्थ हैं कि वस्त्र पर लग जायें तो हम उसे खूब धोते हैं, अंग पर लग जाय तो मल-मल कर नहाते हैं। उसे छुटा कर दूर किये बिना नहीं मानते। उन्हीं मलिन पदार्थों से रचित यह शरीर शुचि कैसे कहा जा सकता है। रक्त, मांस, मज्जा, अस्थियाँ, नसों का जाल—ये पदार्थ हैं जिनसे हमारा शरीर बना है। यदि इन पदार्थों को खुला देखलें तो हमारे चित्त में घिन भर जाय, उबकाई आने लगे। गौर त्वचा से आवृत होकर यही पदार्थ तो देह का गठन करते हैं।

---

१ **चन्द्रचरित्र** पृ ११८

२ **योगशास्त्र** आचार्य हेमचन्द्र ४ ७२

हमारे अंग-अंग से भीतर के मलिन पदार्थ बाहर निकलते रहते है। आँखो से गीड, नाक से श्लेष्म, कान से मैल, मुख से खखार, जीभ से थूक, इसके अतिरिक्त मल, मूत्रादि विसर्जित होते रहते है। रोम-रोम से पसीना निकलता है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर के भीतर कितने अपवित्र पदार्थों का भण्डार है। ये पदार्थ निरन्तर नि.सृत होते रहते है—इसका यह अर्थ भी है कि इनका निर्माण शरीर के भीतर होता रहता है। जो सुन्दर और स्वादिष्ट पदार्थ हम ग्रहण करते है यह उन्हीं की चरम परिणति है।

इस मलिन शरीर मे असंख्यात रोग भरे पडे है। ऐसी मान्यता है कि शरीर पर साढे तीन करोड रोम-कूप है। इनसे लगभग दुगुने ६ करोड साढे बारह लाख रोग शरीर के भीतर निवास करते है। यही कारण है कि शरीर को 'व्याहि रोगाण आलये'—व्याधियो का घर कहा गया है। असख्य कृमि-कीट इसमें भरे हैं। शरीर के अन्तरंग के ससर्ग मे आकर पवित्र वस्तुएँ भी मलिन हुए बिना नहीं रहती। भगवती मल्लिनाथजी अपने आरम्भिक जीवन मे अत्यन्त रूपवती राजकुमारी मल्लिकुमारी के रूप में ख्यात थी। उनके अपार सौन्दर्य राशि की चर्चा सर्वत्र व्याप्त रहा करती थी। परिणामत: अनेक राजा उन्हे पत्नी रूप मे प्राप्त करने के आकांक्षी थे। ६ राजाओ ने विवाह प्रस्ताव भेजे जिन्हे राजा कुम्भराज (मल्लिकुमारी के पिता) ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि वे जानते थे कि राजकुमारी तो विरक्त होकर तीर्थंकर बनने वाली है। अस्वीकृति के अपमान से क्रुद्ध होकर छहों राजा ससैन्य आक्रमण कर बैठे। स्थिति बड़ी विकट हो गयी। भावी भयकर रक्तपात की कल्पना मे राजकुमारी आतंकित हो उठी और उसने युद्ध को टालने की एक युक्ति खोजी।

राजकुमारी मल्लि ने अपनी एक अत्यन्त आकर्षक स्वर्ण प्रतिमा निर्मित करवायी जो भीतर मे खोखली थी। प्रतिमा के चारो ओर एक गोलाकार भवन निर्मित कराया गया जिसके सुसज्जित कक्षो मे एक-एक आक्रमणकारी राजा को ठहराया गया। इनमें से प्रत्येक राजा यह जानता था कि केवल वही राजकुमारी से विवाह करना चाहता है और उसने ही इस राज्य पर आक्रमण किया है। स्वर्ण प्रतिमा मे मुकुट उठा कर प्रतिदिन स्वादिष्ट व्यजनों का एक ग्रास पिछले कुछ दिनो मे डाला जाता रहा था। राजकुमारी ने विवाहोत्सुक आक्रामक राजाओ को प्रतिमा के पास बुलवाया। वे ऐसे मार्ग से वहाँ पहुँचे थे कि उनमे से किसी को किसी अन्य राजा की उपस्थिति का आभास न था। सहसा प्रतिमा का मुकुट हटा दिया गया और भीतर से ऐसी असह्य, भयंकर दुर्गंध फैली कि राजाओ का वहाँ खड़ा रहना तक भारी हो गया। व्याकुल होकर वे पुकार मचाने लगे कि हमें यहाँ से बाहर ले जाओ, मुक्त करो इस वीभत्स वातावरण से। जो स्वादिष्ट अन्न प्रतिदिन प्रतिमा में डाला जाता था उसी की सड़ांध की यह तीव्र दुर्गन्ध थी।

मल्लिकुमारी ने राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि मेरे शरीर की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है। जिसके बाह्य रूप पर आप मुग्ध हैं उस शरीर के भीतर इस रूप के नीचे कुरूप और घृण्य रक्त मज्जापिंड, अस्थियाँ ही छिपी हैं। ऐसे ही दुर्गन्धपूर्ण मल-मूत्र भंडार है। शरीर के बाह्य रूप पर मुग्ध होना सर्वथा अर्थहीन है। यह दुर्गन्ध तो इस प्रतिमा में प्रतिदिन एक-एक कौर जो डाला गया—उसकी है। दो समय भरपेट भोजन करने वाले मनुष्य के भीतर की मलिनता का अनुमान लगाइये। श्लेष्म, पित्त, रज-शुक्र, रक्त से भरे, मल-मूत्र की सडाँध से भरे शरीर की अशुचिता की कोई सीमा नहीं। यही देह का अप्रिय और कटु यथार्थ है। बाह्य मोहक रूप तो मात्र छलना है। राजकुमारी ने राजाओं को प्रतिबोधित किया कि तुम इस शरीरविषयक काम-भोगों में आसक्त मत बनो, गृद्ध मत बनो, मूर्च्छित न हो—

"मा णं तुब्भ देवाणुप्पिए माणुस्सए कामभोगेसु सज्जह, रज्जह, गिज्जह, मुज्झह।"[1]

राजाओं को जातिस्मरणज्ञान हुआ। पूर्वभव में ये राजा मल्लिकुमारी के मित्र थे और एक साथ दीक्षित होकर इन्होंने साधना की थी। मल्लिकुमारी के कथन से राजा प्रतिबुद्ध हो गये। शरीर के अन्तरंग मालिन्य से जो इस प्रकार परिचित हो जाता है उसके नेत्रों के समक्ष से मोह का, आसक्ति का पर्दा हट जाता है और देह के प्रति उसका राग और आसक्ति पवन प्रभावित मेघों की भाँति छँट जाती है।

अशौच भावना के अन्तर्गत साधक को देह के इस अशौच का चिन्तन करना चाहिये और सोचना चाहिये कि ऐसे अपवित्र शरीर के प्रति आकर्षण का कोई औचित्य नहीं है। देह जन्म की आदि और उत्तर दोनों ही परिस्थितियाँ अशुचि हैं। माता-पिता के रज-शुक्र से निर्मित होकर देह मातृगर्भ में रक्त-मांस, मल-मूत्र के मलिन वातावरण में ही विकसित होता रहा है। माता द्वारा ग्रहण किये गये भोजन के रस से ही उसे पोषण मिलता है। इस प्रकार निर्मित-विकसित शरीर के अशौच होने में सन्देह हो ही क्या सकता है।

शरीर की अशुचिता का बार-बार चिन्तन देह के प्रति ममत्व और राग को कम करता है, आकर्षण को हत्-तेज करता है और तब स्वतः ही आत्मा के सौन्दर्य पर दृष्टि केन्द्रित होने लगती है। यही वास्तविक सौन्दर्य है। साधक को इसी का आभास होना चाहिये। इस सौन्दर्य के बिना तथाकथित बाह्य रूपयुक्त देह सुगंध-हीन पुष्प की भाँति हैं। □

---

१ ज्ञातासूत्र, अध्ययन ८

२०

आश्रव भावना

मन-वचन-काय से कर्म, कर्म से बन्ध बना करते हैं।
आश्रव है वह द्वार कि जिससे आ आत्मा पर कर्म जमा करते हैं॥
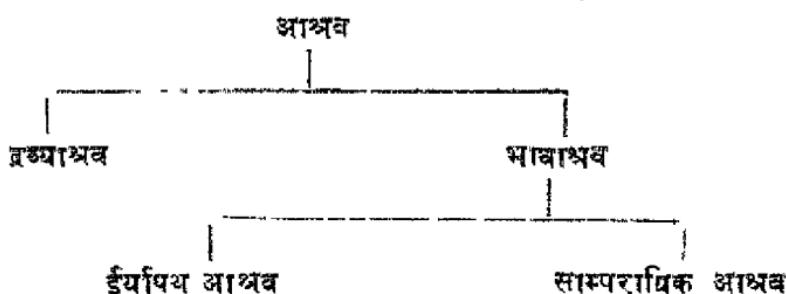
एकत्व भावना में यह प्रतिपादन है कि एक आत्मा ही अकेली हमारी है, अन्य सभी पदार्थ तो संयोग मात्र से हमारे साथ हैं, समय आने पर ये सब बिछुड़ जायेंगे। आत्मा अनश्वर है, अजर है। अन्यत्वभावना में यह चिन्तन है कि आत्मा और शरीर पृथक-पृथक है। अशौच में शरीर की अशुचिमयता का प्रतिपादन किया गया है और इस चिन्तन को प्रेरित किया जाता है कि बाह्य शारीरिक सौन्दर्य तो मात्र छलना है। इस रूप पर मुग्ध न होकर शरीर की आन्तरिक अपवित्रता की ओर ध्यान दें और आत्मा को सर्वस्व मानते हुए शरीर के प्रति आसक्ति और राग विकसित न होने दें। ये सारे प्रयास कुल मिलाकर इस प्रयोजन से हैं कि मनुष्य अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचानने में समर्थ हो सके। साधना के लिए यह अनिवार्य आरम्भिक सोपान है।

आत्मा तो हमारे अन्तर् में ही बसी है—उसे भला देखने-पहचानने में क्या कठिनाई हो सकती है? ऐसा सोचा जा सकता है, किन्तु यथार्थ इससे भिन्न है। जैसे सूर्य सारे जगत् को अपने आलोक से दृश्यमान कर देता है, वह स्वयं अदृश्य कैसे रह सकता है; किन्तु एक लघु मेघ-खण्ड ही उसे आवृत करने को पर्याप्त होता है। सत्य है कि यह आवरण सूर्य का अस्तित्व नहीं मिटा पाता, उसे अनुपस्थित नहीं बना सकता, किन्तु वह लुप्त तो हो ही जाता है। वैसे ही यह कान्तिमान आत्मा कर्मों के आच्छादन से ऐसी आवृत हो जाती है कि उसे उसके शुद्ध रूप में देखना-पहचानना असम्भव सा हो जाता है। अपने मौलिक स्वरूप में आत्मा-आत्मा समान है। सिद्ध महापुरुषों की आत्मा और सामान्य अज्ञजन की आत्मा में तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं हुआ करता। अन्तर है तो बस इतना ही है कि सिद्धजन साधना द्वारा कर्मों के इस आच्छादन को विदीर्ण कर चुके होते हैं और सामान्यजन आत्मा के इस आवरण के पार झाँकने का सामर्थ्य नहीं रखते। वे आत्मा का उसके शुद्ध स्वरूप में दर्शन नहीं कर पाते। कर्मों के इस बन्धन के कारण जन्म-मरण का चक्र लगा रहता है। कर्म

क्षीण हुए, कि मुक्ति-लाभ हुआ। आश्रव भावना के अन्तर्गत इसी प्रकार के प्रश्नो पर चिन्तन का विधान है कि आत्मा पर कर्मो का यह आवरण क्यो छा जाता है? इस आवरण के आच्छादित हो जाने की प्रक्रिया क्या है? आदि-आदि। यह समझे बिना इस आच्छादन से मुक्त होकर साधक शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन नही कर पाता जो मुक्ति के लिए नितान्त अपेक्षित है। आत्मा स्वभावत तो शुद्ध स्वरूपधारी है, किन्तु जीव अज्ञानादि कारणों से कर्मो का सचय कर लेता है और आत्मा का स्वरूप अशुद्ध या विकारयुक्त हो जाता है—'३,७७८,णरूओ जीओ कम्माण कारगो होई।' मिथ्यात्व-युक्त, अज्ञानी जीव कर्मो का कर्त्ता होता है। इन कर्मो का मार्ग ही 'आश्रव' है। मूलतः यही आश्रव आत्मदर्शन मे बाधक है, क्योकि कर्मो का स्रोत यही है। आगे चलकर सवर भावना मे इस स्रोत के निरोध पर भी चिन्तन होगा।

यह तो स्पष्ट है कि कर्मो के साथ सयोग के कारण आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे नहीं रह पाती। अब विचारणीय प्रसग यह बन जाता है कि यह आत्मा और कर्मो का संयोग कैसे हो जाता है? यदि धुआँ है तो स्पष्ट है कि उसके कारणस्वरूप अग्नि भी कही न कही अवश्य है। बिना कारण के कार्य का होना असभव है। जब आत्मा और कर्मो का मालिन्यजनक सयोग होता है तो इसके आधारस्वरूप कारण भी अवश्य ही होना चाहिए। यही कारण, पाप-पुण्य के आगमन का द्वार—आश्रव है। विशाल समुद्र जल का अथाह भण्डार होता है। नदियाँ निरन्तर उसमे जल डालती रहती है। यदि आत्मा को समुद्र मान लिया जाय, तो उसमे आकर मिलने वाला जल कर्म है और इस कर्मरूपी जल को लाने वाली नदी आश्रव के समान है। जीव मन, वाणी और शरीर से युक्त है और प्रतिक्षण वह इनका निरन्तर उपयोग करता रहता है। परिणामत चिन्तन या भावना, वचन और कार्य होते रहते है। इन माध्यमो से असत्य, हिंसा, राग, द्वेष आदि विभिन्न प्रवृत्तियो मे रत होकर जीव कर्मो का बन्धन कर लेता है। जो कर्म है वह आश्रव नहीं है। ये दोनो पृथक-पृथक है। जैसे जो जल है वह नदी नही है अथवा जो धुआँ है वह अग्नि नही है। यह सत्य है कि नदी का मार्ग यदि न मिल पाता तो जल अग्रसर होकर समुद्र तक न पहुँच पाता। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि नदी और जल दोनो अभेद हो गए हो। जल-शून्य तटों से घिरा वह सूखा जल-पथ भी नदी ही कहलाता है। इसी प्रकार आश्रव और कर्म का स्वतन्त्र और पृथक्-पृथक् अस्तित्व होता है। इसी प्रकार कर्मो का जो बन्ध है, वह भी आश्रव नही है। कर्मो के आगमन का मार्ग या आधार ही आश्रव है। आगमन के पश्चात् उनका जीव मे स्थापित हो जाना बन्ध है। इस प्रकार ये तीनो पृथक्-पृथक् है। प्रथमत. आश्रव होता है जो कर्मो का कारण या उनके आगमन का मार्ग बनता है, उसके पश्चात कर्म स्वय होता है जो आश्रव के सहारे जीव प्रदेश तक पहुँचता है और उसके पश्चात बन्ध होता है जो आत्मा के साथ इन कर्मों के स्थिरीकरण की प्रक्रिया है।

आश्रव के भेदो को निम्न व्यवस्था से समझा जा सकता है—

आश्रव
- द्रव्याश्रव
- भावाश्रव
  - ईर्यापथ आश्रव
  - साम्परायिक आश्रव

ससारी जीव का सम्बन्ध शरीर आदि से रहता है और जगत मे असख्य पुद्गलों का समुच्चय रहता है जिसमे एक वर्गणा 'कार्मण' भी होती है। कार्मण वर्गणा कर्म बनने की समर्थता अवश्य रखती है, किन्तु वह कर्मरूप मे परिवर्तित तभी होती है जब आत्मा मे परिस्पन्दन हो। इस प्रकार कार्मण वर्गणा और आत्म प्रदेश मे घटित परिणामों को 'पृथक्-पृथक दर्शाने वाला भेद ही द्रव्याश्रव और भावाश्रव का भेद है। भावाश्रव उस वस्तु के समान है जिस पर तेल लगा हुआ है और द्रव्याश्रव उस पर आकर चिपक जाने वाले धूलि-कणों के समान है। भावाश्रव निमित्त या कारण है और द्रव्याश्रव उस कारण के सामर्थ्य का परिणाम प्रदर्शित करता है।

ईर्यापथ आश्रव द्वारा कर्म का आगमन तो होता है, किन्तु आगामी क्षण ही वे बिना कोई फल दिये क्षीण हो जाते है। मोह-शमन पर ही ऐसे कर्मो का आगमन सभव होता है। कषाय के अवशिष्ट रहने की स्थिति मे ईर्यापथ आश्रव सक्रिय नही हो पाता। यह केवल योगनिमित्तक ही होता है। संसार के प्रयोजक और ससार-वृद्धि मे सहायक कर्म—साम्पराय कर्म कहलाते है। ये कर्म कषाय का चेप रहने के कारण स्थिति बन्ध हो जाते है, स्थिर हो जाते है। ईर्यापथ और साम्पराय दोनो मे योग की भूमिका अनिवार्यत: रहती है, किन्तु पहले मे योग अकेला होता है और दूसरे में योग के साथ कषायादि भी सम्मिलित रहते है।

संसाररूपी कार्य के लिए कर्मरूपी कारण की नितान्त अपेक्षा रहती है। कर्मो का आगमन योग द्वारा होता है और मिथ्यात्व आदि आत्मपरिणाम रहते हैं। इन कारणो की दृष्टि से आश्रव के ५ भेद किए जाते है—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग।

आश्रव-कारणो की इस उपर्युक्त क्रमबद्ध व्यवस्था का भी एक विशेष महत्व है। इन कारणो मे पहले की अपेक्षा दूसरे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे मे और इसी प्रकार आगे से आगे मे उत्तरोत्तर अल्पतर शक्ति के कर्मो का आगमन होता है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ शेष चारो कारण भी स्वत: ही जुड़े रहेगे- किन्तु जहाँ प्रमाद है वहाँ इससे पहले के दो कारण मिथ्यात्व एव अविरति अनुपस्थित रहेंगे। केवल बाद के कारण कषाय और योग जुड़ रहेंगे उदाहरणार्थ

जहाँ योग होगा वहाँ वह अकेला ही एक कारण होगा—शेष चार उसके साथ संयुक्त नही होगे। इस व्यवस्था को समझने के लिए दस हजार तक की इकाई वाली सख्या का सहारा लिया जा सकता है। दस हजार की संख्या मे हजार, सैकड़ा, दहाई और इकाई सभी जुड़े रहते हैं, किन्तु सैकड़ा के साथ केवल दहाई और इकाई ही जुड़ी रहती है, हजार और दस हजार नही जुड़े होते हैं। इकाई मे मात्र एक ही इकाई सख्या रह जाती है उसके साथ दहाई, सैकडा, हजार और दस हजार की इकाइयाँ जुड़ी हुई नहीं होती हैं।

मिथ्यात्व

'कर्मबन्ध च मिथ्यात्व मूलम्'—भावनाशतक मे मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का मूल कारण बताया गया है। मिथ्यात्व मे किसी वस्तु के प्रति असत्य श्रद्धान होता है, मिथ्या दृष्टि रहती है। यथा—आत्मा से भिन्न पदार्थों मे आत्मबुद्धि का आग्रह मिथ्यात्व है। इस प्रकार की विपरीत श्रद्धान से विपरीत प्ररूपणा होती है, जैसे—जड़ पदार्थों में चैतन्य का दर्शन करना, अतत्व को तत्व मानना आदि। यह मिथ्यात्व भी दो प्रकार का होता है—एक मे कर्मावरण की सघनता के कारण किसी वस्तु को वह मान लिया जाता है जो वह यथार्थ में नही होती। एकेन्द्रिय आदि जीवो मे यह स्थिति पायी जाती है। वस्तु के विषय मे जब जीव किसी एक ही दृष्टि को स्वीकार कर उस पर वह दृढ़ हो जाता है तो मिथ्यात्व का दूसरा भेद हमारे समक्ष आता है। इसमें उस आंशिक दृष्टि को ही समग्र मान लेने का कदाग्रह रहता है और अन्य पक्षो की सर्वथा उपेक्षा रहती है। यह कदाग्रह परोपदेश से भी जागृत हो सकता है और स्वचिन्तन से भी। मिथ्यात्व के अधीन वस्तु की विपरीत प्ररूपणा के प्रभावस्वरूप जीव स्वयं को भूल कर ससार परिभ्रमण का आधार बना लेता है, जन्म-मरण का चक्र और अधिक सुदृढ़ हो जाता है।

अविरति

इच्छाओ तथा पापाचरणों में संलग्न रहना, उनका त्याग न करना ही अविरति है। मन से इच्छाओं का उद्भव होता है और वचन और काया द्वारा पापो मे प्रवृत्ति होती है। मन व इन्द्रियों को संयमित कर हिंसा का त्याग प्रत्याख्यान न करना अविरति है। जहाँ त्याग की भावना नही, वहाँ प्राप्ति की अभिलाषा रहती है और अशुभकर्मो का आश्रव बना रहता है। पृथ्वी आदि छह काय के जीवो की हिंसा का त्याग न करना, ६ अविरतियो का कारण बनता है। इसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो को अपने-अपने विषय मे प्रवृत्त होने से न रोकने से सम्बन्धित पाँच विरतियाँ होती है। मन को अशुभ प्रवृत्तियो से न हटाना भी एक अविरति है। इस प्रकार अविरति के १२ भेद हो जाते हैं।

अविरति से रक्षित रहने के लिए मन व इन्द्रियों को संयमित करना अत्यावश्यक है; जब तक यह नही किया जाता, चाहे पापाचरण न भी किया जाय अविरति

का पाप लगता ही रहता है ऊपरी दृष्टि से यह विचित्र लगता है कि जो कर्म किये ही नहीं गये उनका पाप हम क्यों लगे किन्तु है यह सत्य जब तक त्याग न किया जाय, हम चाहे व कर्म न भी करें फिर भी आशा-अभिलाषा का द्वार तो खुला ही रहता है। उस द्वार से कोई भी आ ही सकता है। पूर्वकर्मों के बन्ध तो लगे ही रहते हैं उनका पाप लगना भी स्वाभाविक है, चाहे वर्तमान में वह तद्विषयक कर्म न भी कर रहा हो। पूर्वकर्मों के प्रभाव को स्थगित करने के लिए भी अविरति का प्रत्याख्यान आवश्यक है, त्याग अनिवार्य है। अविरति से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं—

'निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहुत्ते सुप्पणिहिये विहरइ

त्याग से जीव आश्रवों का निरोध करता है, कर्मागमन का द्वार बन्द हो जाता है, शुद्ध चारित्र का पालन होता है, पाँच समिति और तीन गुप्ति योग अष्ट प्रवचन माताओं की आराधना होती है जिससे सन्मार्ग में सम्यक् समाधिस्थ होकर जीव विचरण करता है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है आलस्य या शैथिल्य। प्रासंगिक रूप में धर्माचरण के प्रति आत्मा की उत्साहहीनता या शिथिलता ही प्रमाद है। मोक्ष-मार्ग के अनुसरण का उद्योग न करना प्रमाद है। मिथ्यात्व और अविरति चाहे न भी हो, किन्तु यदि प्रमाद है तो उक्त दोनों दोषों का अभाव कोई लाभ नहीं दे सकता, क्योंकि प्राप्ति के प्रयत्न का ही अभाव रहता है। अप्रमाद रूप में साधना करने से ही तो साध्य-लाभ होगा। अन्यथा सांसारिक परिभ्रमण चलता ही रहेगा। प्रमाद मानव को प्राप्त स्वर्णावसर को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है। आलस्य की अनेक प्रवृत्तियाँ रहती हैं, यथा—अहंकार आ जाना, इन्द्रियविषयों में लिप्त होना, कषायों (लोभादि) का सक्रिय और सबल हो जाना आदि-आदि। प्रमाद के ५ भेद किये जाते हैं—

(१) मद, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथा

प्रमाद मनुष्य को जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्यादि के मिथ्या अहंकार से भर देता है। यही मद है। प्रमादवश ही मनुष्य पाँच इन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में आसक्त हो जाता है। प्रमाद ही क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों को उत्तेजित करता है। प्रमाद ही मनुष्य को निद्रा के अभिशाप से शिथिल बना देता है। प्रमाद के प्रभावस्वरूप ही मनुष्य निस्सार अर्थहीन कथाओं के कथन श्रवण में ग्रस्त रहता है जैसे—भोजन कथा, स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथादि। इस प्रकार प्रमादग्रस्त व्यक्ति व्यर्थ और अलाभकारी प्रवृत्तियों में पड़कर जीवन नष्ट कर देता है। मानव जीवन का सदुपयोग तो भारंडपक्षी के समान अप्रमत्त और सावधान रहने में और इस प्रकार सन्मार्गानुसरण द्वारा आत्मलाभ अर्जित करते रहने में ही है।

कषाय

आत्मा के कलुष-परिणामो को ही कषाय कहा जाता है। कषाय आत्मा को कर्मो के साथ सयुक्त कर उसके शुद्ध स्वरूप को विकृत करते है। कषाय के चार भेद किये जाते है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) और लोभ। शास्त्रो मे ये चार कषाय लुटेरो के समान वर्णित किये गये है। ये ऐसे दस्यु है जो आत्मा मे छिपकर बैठ जाते है और आत्मा की ही सम्पदा को लूटते रहते है। आत्मा को ये यह भी आभासित नही होने देते है कि वे उसकी कितनी घोर हानि कर रहे है। इस छद्मवृत्ति के कारण उन्हे तस्कर के समान भी बताया जाता है। ये कषाय मनुष्य को पुन: जन्म-पुन. मरण के आवागमन चक्र मे अधिकाधिक ग्रस्त करते रहते है।

दशवैकालिक (८/३८) मे वर्णित है—

> **कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।**
> **माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥"**

अर्थात्—क्रोध प्रीति-स्नेह का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया-कपट मैत्री का नाश करती है और लोभ तो समस्त सद्‌गुणो का सर्वनाश कर देता है।

कषायो के दुष्परिणामो का विवेचन उत्तराध्ययन मे इस प्रकार मिलता है—

> **अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई।**
> **माया गई पडिग्घाओ लोहाओ दुहओ भयं॥**

क्रोध से जीवन का अध पतन होता है, मान से जीव को नीच गति प्राप्त होती है, माया सद्‌गति का नाश कर देती है और लोभ से इहलोक और परलोक दोनो में भय उत्पन्न होता है। अतएव ये कषाय आत्मा के लिए घातक है और सर्वथा त्याज्य हैं। इन पर विजय पाना परमावश्यक है। क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को सतोष से जीता जा सकता है। "**कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव**"—कहकर शास्त्रो मे कषाय-विजय को ही मुक्ति कहा गया है।

क्रोध, मान, माया और लोभ—आधारभूत रूप से कषाय के ये ही चार भेद हैं। इनमे से प्रत्येक के ४-४ प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन होते है। इस प्रकार कुल १६ प्रकार के कषाय हो जाते है। अनन्तानुबन्धी वर्ग के अन्तर्गत ये क्रोधादि चारो कषाय जीवन पर्यन्त नष्ट नही होते। अप्रत्याख्यानी वर्ग मे जब ये आते है, इनकी वासना एक वर्ष तक, प्रत्याख्यानी वर्ग में ४ माह और संज्वलन मे १५ दिन तक रहती है।

कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो स्वय तो कषाय नहीं है किन्तु कषायोत्पत्ति मे सहायक रहती है। ऐसे नौ नोकषाय और परिगणित किये जाते है जो 'नोकषाय' नाम से ही जाने जाते है—

(१) **हास्य**—हँसी-विनोद की चेष्टा
(२) **रति**—सतकार्यों के प्रति उदासीनता, असत्कार्यों मे आसक्ति
(३) **अरति**—धर्म कार्यों के प्रति उदासीनता
(४) **भय**—डर का भाव बना रहना
(५) **शोक**—अनिष्ट सयोग होने पर व्याकुलता या दुःख का होना
(६) **दुगु छा**—अशुभ गधादि से व्याकुल होना, घृणा होना
(७) **स्त्रीवेद**—पुरुष-समागम की इच्छा
(८) **पुरुषवेद**—स्त्री-समागम की इच्छा
(९) **नपु सकवेद**—स्त्रीपुरुष दोनो से समागम की इच्छा

योग

नदी जिस स्थान पर बाढ लाती है—उस स्थान पर सघन वर्षा होना बाढ़ के लिए अनिवार्य नही है। बाढ़ तो परिणाम हुआ करती है नदी के उद्गम स्थल अथवा जल-क्षेत्र में घनघोर वर्षा का। जब तक वहाँ वर्षा होगी, बाढ बनी रहेगी। इसी प्रकार जब तक मन, वचन और काया के योगो की प्रवृत्ति चलती रहेगी, कर्म भी निरन्तरित रहेंगे। यह मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ही योग है। आत्मा की दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ है—बाह्य और आभ्यन्तरिक। इनमे से बाह्य प्रवृत्ति रूप ही योग है। इन दोनो प्रवृत्तियो के भी दो-दो भेद होते है—(१) शुभ और शुभ। शुभ योग के निमित्त है—तप, सयम, त्याग आदि जो निर्जरा के कारण है। मिथ्यात्व आदि कारणो के परिणाम अशुभ योग है और यह कर्म आश्रव का द्वार है। मन—वचन और काया द्वारा ही अपनी बाह्य प्रवृत्तियाँ करता है। अस्तु योग के तीन भेद है—

(१) मनोयोग, (२) वचनयोग, और (३) काययोग

इन तीनो का सक्रिय प्रवाह जब तक रहता है, आत्मा इन प्रवृत्तियो के परिणाम भोगती रहती है। योग के अभाव की स्थिति मे ही आत्मा कर्मो के आगमन के रुक जाने से सिद्ध हो जाती है।

प्रवृत्ति के शुभ और अशुभ रूपो के आधार पर ही योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। शुभयोग से पुण्यो का आश्रव होता है और अशुभ योग से पाप का। जिसके मन मे कलुष नही है, अनुकम्पा है उस जीव को पुण्य का आश्रव होता है, जबकि कालुष्य, विषय-लोलुपता, परनिन्दादि से पाप का आश्रव होता है, अशुभ योग इस प्रकार संसार (जन्म-मरण की परम्परा) का कारण है अत इसका निरोध अपेक्षित है। गुप्ति सफल निरोधक है। अत योग की भाँति गुप्ति के भी तीन भेद हो गये है—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति। वचन और काय योग तो सर्वथा बाहरी होने के कारण किसी प्रकार से नियन्त्रण मे आने योग्य हो जाते है, किन्तु चचल मन के योग को साधना बड़ा कठिन है। यही मन बन्ध का भी कारण हो जाता है और मोक्ष का भी

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

कर्मों के आश्रव हेतु मन का नियन्त्रित किया जाना सर्वप्रथम आवश्यकता है । इससे वचन और काययोग का नियन्त्रण स्वत सुगम हो जाता है । अभ्यास एव वैराग्य से मनोनिग्रह सभाव्य हो जाता है । गुप्ति और समिति को इस प्रकार के निग्रह हेतु समर्थ उपचारो के रूप मे जैन शास्त्रो मे प्रतिष्ठा मिली है । इनका सहारा लेकर प्रयत्नपूर्वक मनोनिग्रह किया जाना चाहिये । निग्रह हो जाने पर वचन-काय की प्रवृत्ति मे स्वत: परिवर्तन आजाता है और कर्मों के आश्रव क्षीण होने लग जाते है ।

योग के भेद मुख्यत: तीन ही माने जाते है—मन, वचन और काय । इनके कतिपय प्रभेद भी है और इस प्रकार योग के कुल १५ प्रकार हो जाते है—

(१) सत्य मनोयोग—सत्य विषयक मानसिक प्रवृत्ति

(२) असत्य मनोयोग—असत्य विषयक मानसिक प्रवृत्ति

(३) मिश्र मनोयोग—सत्य व असत्य से मिश्रित मन की प्रवृत्ति

(४) व्यवहार मनोयोग—व्यवहार सम्बन्धी मानसिक प्रवृत्ति

(५) सत्य वचनयोग—सत्य बोलना

(६) असत्य वचनयोग—मिथ्या भाषण अथवा झूठ बोलना

(७) मिश्रित वचनयोग—सत्यासत्य मिश्रित वचन बोलना

(८) व्यवहार वचनयोग—व्यवहार दृष्टि से वचन प्रयोग

(९) औदारिक काययोग—औदारिक शरीर की प्रवृत्ति (मनुष्य, तिर्यंच शरीर औदारिक है)

(१०) औदारिकमिश्र योग—औदारिक शरीर के साथ अन्य शरीर की सधि के समय कायिक प्रवृत्ति

(११) वैक्रिय काययोग—वैक्रिय शरीर की प्रवृत्तियाँ (देव और नारकीय वैक्रिय शरीर है)

(१२) वैक्रियमिश्र योग—वैक्रिय के साथ अन्य शरीर की सधि के समय की कायिक प्रवृत्ति

(१३) आहारक काय योग—आहारक शरीर की प्रवृत्तियाँ

(१४) आहारकमिश्र योग—आहारक के साथ अन्य शरीर की सधि के समय की शारीरिक प्रवृत्ति

(१५) कार्मण काययोग—कर्मण शरीर का व्यापार

उपर्युक्त योग के १५ भेदो में से न तो सभी त्याज्य है न सभी ग्राह्य यथा सत्यमन, सत्य वचनादि ग्राह्य योग है ।

आश्रव भावना का चिन्तन

कर्मों के द्वार होने के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ५ आश्रव होते है। इनको कारण रूप मे मानकर इनके द्वारा आगमित कर्म कार्यरूप मे माने जाने चाहिये। साधक को इस कार्य-कारण परम्परा को छिन्न-भिन्न करना चाहिये—तभी मोक्ष सुलभ होगा। आश्रव भावना के चिन्तन से ही जीव बन्ध और बन्ध के कारणो से परिचित होता है। इसी ज्ञान के सहारे वह आत्मिक विकास की ओर अग्रसर होता है और बन्धहीन होने के लिए आश्रव-निरोध का उपाय करता है। अन्तत. वह जीवन के परम और चरम लक्ष्य 'मुक्ति' को प्राप्त कर लेता है। □

२१

संवर भावना

आत्मा को जो बन्धग्रस्त करते, उन कर्मों के आश्रव है द्वार।
इन द्वारों को बन्द करे हम कैसे—संवर सिखलाए उपचार।।

"निरुद्धासवे संवरो" —आचारांग

—आश्रव का रुक जाना ही संवर है।

आश्रव आत्मा के दुष्परिणामों का मूल कारण है। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा कर्माच्छादित होकर मलिन हो जाती है। इस बन्ध के कारण आत्मा मुक्ति की पात्रता प्राप्त नही कर पाती। परिणामत. वह जन्म-मरण के चक्र मे ग्रस्त होकर ससार मे भ्रमण करती रहती है। इन घातक परिणामो वाले कर्मों का आत्मा मे जो प्रवेश होता है वह आश्रव द्वार से होकर होता है। सवर इन द्वारो को बन्द करने का उपाय है। आश्रव मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को उन कर्मों का परिणाम देने वाले कारणभूत आश्रव बताया गया है और सवर मे उन कारणो के उन्मूलन पर चिन्तन किया जाता है।

आत्मा का निग्रह सवर का उपाय है। सवर को अपनाने के लिए आवश्यक है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगादि आश्रवो से बचा जाय। अमुक न करो… अमुक न करो—इस प्रकार सवर निवृत्तिपरक है, अशुभ प्रवृत्तियों का निरोध है। प्रवृत्ति आश्रव और निवृत्ति संवर है। आश्रव के दोषो पर उनके विपरीत गुणो से नियन्त्रण किया जा सकता है। ये ही सवर-साधन है। क्षमा से क्रोध पर, मृदुता से मान पर, ऋजुता से माया पर, सतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करने का चिन्तन सवर भावना मे होता है।[1]

संवर : भेदोपभेद

सवर के भेदों के सम्बन्ध मे अनेक दृष्टिकोण अपनाये गये है। एक परम्परानुसार (स्थानांग वृत्ति स्थान-१) सवर के कुल ५७ भेद किए गए है। इनमे ५

---

१ दशवैकालिक, ८ एवं उत्तराध्ययन, १

समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षाएं, २२ परीषहजय और ५ चारित्र है। एक अन्य दृष्टि से सवर के २० भेद किए जाते है—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति (३) अप्रमाद (४) अकषाय (५) अयोग (६) प्राणातिपातविरमण (७) मृषावादविरमण, (८) अदत्तादानविरमण, (९) अब्रह्मचर्यविरमण, (१०) परिग्रहविरमण (११) श्रोत्रेन्द्रियसवर, (१२) चक्षुरिन्द्रियसवर, (१३) घ्राणेन्द्रियसवर, (१४) रसनेन्द्रिय-सवर, (१५) स्पर्शनेन्द्रियसवर, (१६) मनसंवर, (१७) वचनसंवर (१८) कायसवर (१९) उपकरणसंवर एव (२०) सूचीकुशाग्रसंवर।

जिस पद्धति मे जितने सवर-भेद माने जाते है उतने ही आश्रव भेद भी उस पद्धति मे माने जाते है। आश्रव के मान्य ५ भेदो में अन्य सभी वर्गीकरण पद्धतियो के भेद समाहित हो जाते है। अतः उन ५ आश्रव भेदो के अनुरूप सवर के ५ भेद मानने मे भी औचित्य है। इन ५ भेदो मे सभी वर्गीकरण पद्धतियो के सभी सवर भेदो का किसी न किसी प्रकार से समाहार हो जाता है। भेद विवेचन की यह पद्धति अधिक सारगर्भित और सुगठित होने के आधार पर सुगम भी है। आश्रवो के सन्दर्भ मे संवर भेदों का प्रस्तुतीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है—

आश्रवभेद	आश्रव विपरीत संवर भेद
(१) मिथ्यात्व	सम्यक्त्व
(२) अविरति	विरति
(३) प्रमाद	अप्रमाद
(४) कषाय	अकषाय
(५) योग	योगनिग्रह

सम्यक्त्व सवर

मिथ्यात्व संवर द्वार का निरोधक सम्यक्त्व संवर कर्मागमन को रोकने को सर्वाधिक सामर्थ्य वाला प्रमुख साधन है। इसका आधारभूत कारण यह है कि कर्मागमन का प्रबलतम साधन यही मिथ्यात्व आश्रव है। आत्मा की पहचान होना मै क्या हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? आदि का सम्यक् ज्ञान होना इस आश्रव-निरोध के लिए अत्यावश्यक है। स्वपरिचय का ज्ञान न होने से सत्प्रवृत्तियो का शुभारम्भ नही हो सकता। यही मिथ्यात्व है जो न आत्मबोध होने देता है और इससे सन्दर्भित पर-पदार्थो का यथार्थ स्वरूप भी स्पष्ट नही हो पाता। परिणामतः जो स्व नहीं है उसे स्व मानने की भ्रान्ति पुष्ट होती रहती है। जीव-अजीव आदि तत्वों के अस्तित्व का उसी रूप मे श्रद्धान और कथन करना, जिस रूप मे वे वास्तव मे है—सम्यक्त्व है।[1]

यह सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का आदि और प्रमुख कारण माना जाता है। इसी से ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो पाता है। व्रत, तप, ज्ञान आदि के साथ

१ २८/८१

भी यदि सम्यक्त्व न हो तो उनका होना अपूर्ण ही रहता है। मिथ्यात्व यदि संसार का मूल कारण है तो सम्यक्त्व उसका उन्मूलन करता है। जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हैं, परमार्थ के ज्ञाता है, ऐसे महाभाग ही संसार-वृद्धि को सदा के लिए रोक देते हैं।

सम्यक्त्व के भेद

(१) **औपशमिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धी चतुष्क—क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दर्शन-मोह की ३ प्रकृतियाँ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन ७ प्रकृतियो के उपशम मे आत्मा की जो तत्व रुचि होती है, वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाती है।

(२) **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय एवं अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए जीव को जो तत्वरुचि होती है, वह क्षयोपशमिक सम्यक्त्व कहलाती है।

(३) **क्षायिक सम्यक्त्व**—सम्यक्त्वघाती अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक कुल ७ प्रकृतियो के क्षय से जीव को होने वाली तत्वरुचि क्षायिक-सम्यक्त्व है।

इन तीन भेदो के अतिरिक्त आगमो मे दो और भेदो का उल्लेख मिलता है।

(४) **सास्वादन सम्यक्त्व**—जीव का जो परिणाम सम्यक्त्व के थोड़े से स्वाद सहित है वह सास्वादन सम्यक्त्व है। यह औपशमिक सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व-अभिमुख होने वाले जीव मे होता है।

(५) **वेदक सम्यक्त्व**—क्षपक श्रेणी अथवा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय कर चुकने पर जो पुद्गल शेष रहते है, उन्हे नष्ट करता हुआ जीव अन्तिम समय मे जिस परिणाम का वेदन करता है—वह वेदक सम्यक्त्व है।

ये भेद सम्यक्त्वधारी पात्रो की दृष्टि मे ही है, अन्यथा सम्यक्त्व स्वयं का कोई भेद नही होता। तत्वश्रद्धा उसका एकमात्र लक्षण है। और यह सत्य है कि सम्यक्त्व प्राप्ति से ही आत्मकल्याण सम्भव है।

सम्यक्त्व की पहचान के ५ लक्षण माने जाते है—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। क्रोधादि कषायो का उपशम या क्षय होना शम है। मोक्ष-कामना का रहना संवेग है। संसार से उदासीनता वैराग्य या निर्वेद है। प्राणियो को पीड़ा न पहुँचाते हुए उन पर दया भाव रखना अनुकम्पा है और जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताये गये पदार्थो, परलोक, आत्मा-परमात्मा, अतीन्द्रिय पदार्थों पर आस्था-

श्रद्धा का होना आस्तिक्य है। जिस जीव में ये लक्षण विद्यमान हैं उसे सम्यक्त्वसम्पन्न कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अतिचारों के द्वारा यह भी पहचाना जा सकता है कि सम्यक्त्व का अभाव किस में है। ये अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्डप्रशंसा, एवं परपाषण्डसंस्तव। अरिहन्त भगवान द्वारा बताये गये जीवादि पदार्थों में सन्देह करना शंका है। बाह्य आडम्बर देखकर अन्य दर्शन-मतों की ओर आकर्षित होना कांक्षा है। आगमसम्मत धर्मक्रियाओं के फलों में सन्देह करना विचिकित्सा है। मिथ्यात्ववादी अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना परपाषण्ड प्रशंसा है और ऐसे अन्य मतावलम्बियों के साथ विशेष संसर्ग रखना परपाषण्ड संस्तव है।

ऐसे दोषों से रहित, गुणों से सहित सम्यक्त्वधारी जगत में रहकर भी 'जल में कमलवत्' जगत से निर्लिप्त रहते हैं, वे आत्म-प्रकाश में साधना-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति से संसरण की समाप्ति—मोक्ष की प्राप्ति असंदिग्ध हो जाती है। मिथ्यात्व का निरोध मुक्ति का आश्वासन होता है।

विरति संवर

विरति एक व्रत है। मिथ्यात्व के पश्चात् कर्मों के आगमन का दूसरा प्रमुख द्वार है—हिंसादि अशुभ प्रवृत्तियों में लगे रहना। इन पापों से विरत रहना ही विरति व्रत है। सम्यक्त्व प्राप्ति पर यथार्थ स्वरूपों और कर्त्तव्यों का बोध हो जाता है। अकरणीय के प्रति निवृत्ति भाव इससे आगे का चरण है। यही विरति है। '**सम्मत्तदंसी न करेइ पावं**'—सम्यक्त्वसम्पन्न जीव पाप नहीं करता है।[1] पापकर्मों में सुखानुभव जब तक होता रहता है, तब तक जीव को सम्यक्त्व रहित ही माना जाना चाहिये। सम्यक्त्व के आते ही पापकर्मों से निवृत्ति भी हो जाती है। इस प्रकार सम्यक्त्व और विरति में कारण-कार्य सम्बन्ध है।

मन, वचन और काया— क्रिया के ये तीन ही साधन हैं। इन साधनों से होने वाली **क्रियाएँ** भी दो प्रकार की होती हैं—शुभ और अशुभ। शुभ क्रियाओं से पुण्य और अशुभ क्रियाओं से पापों का संचय होता है। पापों से बचने के लिए अशुभ क्रियाओं का निरोध अपेक्षित है और व्रत इसमें सहायक होते हैं। निवृत्तिमूलक विरति इन पाप-क्रियाओं से बचाने वाले व्रत हैं। इस प्रकार नवीन कर्मों का आश्रव रुक जाता है। भावनाशतक (६०) में कहा गया है—'**बिना व्रतं कर्मरुगाश्रवस्तथा**', अर्थात्—कर्माश्रव रूपी रोग का उन्मूलन करने के लिए व्रत रूप औषधि का उपयोग करना चाहिये।

---

१ ३/२

व्रत के भेद

व्रत के मूलतः दो भेद किये गये है—(१) महाव्रत और (२) अणुव्रत हिंसादि ५ पापों का परित्याग पञ्च महाव्रत के नाम से जाने जाते है। इन पाँचो पापो को मन, वचन, कर्म से न तो करना, न करवाना और न ही इनका अनुमोदन करना—व्रत की परिपूर्ण अवस्था है। कोई इस समग्र अवस्था मे पालन कर पाता है तो कोई आंशिक रूप मे ही। इस दृष्टि से ही व्रतो के ये दो भेद किये गये। पहली स्थिति को सर्वस्थिति की अवस्था माना जाता है और व्रत महाव्रत कहलाते है। दूसरी स्थिति मे देशविरति रहती है और व्रत अणुव्रत कहलाते है। जिन्होने बाह्य-आभ्यन्तरिक रूप से गृहत्याग कर दिया है वे अणगार कहलाते है और वे ही महाव्रतो का समग्रत पालन करने की समर्थता रखते है। जो गृहस्थ है किन्तु गृहत्याग की कामना रखते है, अणगारो के प्रति श्रद्धा रखते है, उनके लिए अणुव्रतो का विधान है। महाव्रत के ५ और अणुव्रत के भी ५ ही भेद किये गये है किन्तु ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत मिलाकर श्रावक व्रत १२ हो जाते है।

महाव्रत

(१) **प्राणातिपातविरमण**—मन, वचन और काया तीनो योग से जीवहिंसा के तीनो करण न करना अर्थात् जीवहिंसा न स्वयं करना, न दूसरे को करने की प्रेरणा देना, न अन्य द्वारा कृत हिंसा का अनुमोदन करना।

(२) **मृषावादविरमणः**—क्रोध, लोभ, हास्यादि किसी कारण से मन, वचन, काया से असत्यभाषण करना नही, अन्य से करवाना नही, और करने वाले का अनुमोदन करना नही।

(३) **अदत्तादानविरमण**—तीन करण और तीन योग से अदत्त वस्तु ग्रहण नही करना। ये अदत्त वस्तुएँ ४ प्रकार की होती है—स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थंकर अदत्त, और गुरु अदत्त। कोई वस्तु उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना स्वामी अदत्त है, स्वामी की आज्ञा है, किन्तु वस्तु जीव रहित न हो तो जीव अदत्त है। वस्तु जीवरहित भी है किन्तु तीर्थंकर की आज्ञानुसार एषणीय न हो तो तीर्थंकर अदत्त है। एषणीय (ग्राह्य) भी है, परन्तु गुरु अनुमति बिना उपयोग किया जाय तो वह गुरु अदत्त है।

(४) **मैथुनविरमणः**—सर्व प्रकार के मैथुन का सर्वथा परित्याग। स्थूल, सूक्ष्म, देव, मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन न स्वयं करना, न दूसरो से करवाना और न ही अन्य करने वाले का अनुमोदन करना।

(५) **परिग्रहविरमणः**—धन-धान्यादि १४ प्रकार के बाह्य एवं मिथ्यात्व, कषायादि आभ्यन्तर परिग्रह और ममत्व भाव से मुक्त होना।

अणुव्रत

महाव्रतों की अपेक्षा अणुव्रत छोटे और स्थूल होते हैं। आंशिक निवृत्तिपरक ये व्रत गृहस्थों के पालनार्थ होते हैं। श्रावकव्रत १२ हैं—

(१) **स्थूल प्राणातिपातविरमण**—निरपराध त्रस जीवों को जानबूझकर, मन, वचन और काया द्वारा मारना नहीं, और मरवाना नहीं। हिंसायुक्त पदार्थ-मांस-मदिरादि का सेवन नहीं करना।

(२) **स्थूल मृषावादविरमण**-अनर्थकारी और हिंसक वचन न बोलना और न बुलवाना।

(३) **स्थूल अदत्तादानविरमण**—लोक और विधि के अनुसार जो कार्य चोरी है, उनका न स्वयं करना, न अन्य द्वारा करवाना।

(४) **स्थूल मैथुनविरमण**—पर-स्त्री का सर्वथा त्याग और स्व-स्त्री के साथ मर्यादित रहना, पर्व, तिथियों आदि पर सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(५) **परिग्रहपरिमाण व्रत**—क्षेत्र, धन, पशु, दास, धान्यादि के विस्तार की कामना पर अंकुश लगाना और अन्योपार्जित धन की इच्छा न करना।

(६) **दिग्व्रत**—पूर्व-पश्चिम आदि छः दिशाओं की क्षेत्र मर्यादा का जीवन पर्यन्त पालन करना और बाँधी हुई सीमा के बाहर न जाना।

(७) **भोगोपभोगव्रत**—भोग और उपभोग की वस्तुओं—भोजन, वस्त्रादि का नियमन और १५ कर्मादान के व्यापारों का न करना।

(८) **अनर्थदण्डविरमणव्रत**—आर्त-रौद्र ध्यान न करना, जीवों की यतना में प्रमाद न करना, हिंसा के उपकरण न रखना, और न दूसरों को देना, हिंसाकारी उपदेश न देना।

(९) **सामायिक**—समभावजनक सामायिक क्रिया करना।

(१०) **देशावकाशिकव्रत**—दिग्व्रत में की हुई दिशाओं की मर्यादा को प्रतिदिन संकुचित करना और व्रत में रखी गयी मर्यादा से भी कम उपयोग करना, उसका भंग नहीं करना।

(११) **पौषधव्रत**—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि तिथियों पर पौषध करना।

(१२) **अतिथिसंविभागव्रत**—त्यागी सुपात्र को योग्य वस्तु का दान करना।

अप्रमाद संवर

पाप-क्रियाओं को रोकने के लिए व्रतों द्वारा संकल्प धारण कर लिए जायें, यह तो उत्तम है किन्तु इन व्रतों के पालन में प्रमाद या शैथिल्य रहे उत्साहहीनता रहे तो कर्माश्रव को रोका नहीं जा सकता। से स्वस्थ हो जाने के

पश्चात् यदि निर्दिष्ट पथ्य न लिया जाय तो रोग के पुन हो जाने की आशका रहती है, वैसे ही व्रतो मे प्रमाद से कर्मों के पुनरागमन की आशका बनी रहती है। अत अप्रमादी रहना भी अत्यावश्यक है।

प्रमादहीन बनने के क्रम मे यह भी आवश्यक है कि प्रमादजनक कारणो का ज्ञान किया जाय। तभी इन कारणो का उन्मूलन कर अप्रमादी बनने की दिशा मे गतिशीलता सम्भव हो सकती है। प्रमादोत्पादक कारणो को समझने के प्रयोजन से प्रमाद के पंच भेदो—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा को आधार मानना होगा। ये प्रमाद के बाह्य लक्षण है। ये प्रमाद रूप बाह्य व्यवहार मे व्यक्त हो जाते है किन्तु अमुक कारणो मे ये उत्पन्न मन मे ही होते है। वे कारण भी मन मे विद्यमान रहते है। कारण है—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, संज्वलन क्रोधादि। जब तक ये प्रकृतियाँ है, तब तक अप्रमादावस्था प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

प्रमाद पर विजय प्राप्त करना अत्यावश्यक है, अन्यथा व्रत धारण व्यर्थ हो जाता है और कर्माश्रव भी निरुद्ध नही हो पाता। बाह्य रूप मे जो मोटे-मोटे प्रमाद समझे जाते है, आरम्भ मे उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। सूक्ष्म प्रमादो को समझकर उनके परित्याग की प्रेरणा भी इससे क्रमश: मिलती जायगी। प्रमाद-विजय के लिए व्रतो मे लगे दोषो की आलोचना करना भी आवश्यक है। इस निरन्तर अभ्यास से सूक्ष्म प्रमाद भी धीरे-धीरे हटने लगते है। अप्रमाद से कर्मबन्ध रुकेगा और साधक मुक्ति के निकट पहुँचता जायगा।

अकषाय संवर

कर्माश्रव को निरुद्ध करने के क्रम में अमिथ्यात्व (सम्यक्त्व), अविरति और अप्रमाद के पश्चात् अकषाय का स्थान आता है। आरम्भिक ३ साधनों से नवीन कर्मों का आश्रव भले ही रोक लिया जाय, फिर भी आत्मा मे कुछ ऐसे परिणाम विद्यमान रह ही जाते है जो आत्मा को अपना शुद्ध रूप ग्रहण नही करने देते है। इस आत्मिक मलिनता के कारण कषाय ही होते है। आत्मा कर्माश्रवनिरोध के कारण उच्च से उच्चतर होती चली जा रही हो, पर किसी भी क्षण कषाय उसका अध पतन कर सकते है और समस्त साधना-उपलब्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। इस आध्यात्मिक विग्रह के अतिरिक्त कषाय लौकिक जीवन को भी अशान्तिपूर्ण और दु:खमय बना देते हैं।

मान, माया, क्रोध और लोभ—कषाय के ये प्रमुख चार भेद हैं जो जितने तीव्र होंगे उतने ही तीव्र अशुभ कर्मों का बन्ध भी होगा। कैवल्य प्राप्ति के लिए यह है कि कषाय भी अवशिष्ट न रहें उनका सर्वथा उन्मूलन हो

जाय। कारण यह है कि कषाय की नाममात्र उपस्थिति की दशा में भी आत्मा निर्मल नहीं हो सकती। कषायों का परित्याग ही अकषाय है।

अकषाय के लिए कषायों का निरोध आवश्यक है और कषायों को नष्ट करने के लिए आत्मिक शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिये। आत्मिक शक्ति इस प्रयोजन के लिए सर्वथा समर्थ है। कषायों को नष्ट करने के लिए अरिहन्त भगवान महावीर ने उपदेश दिया है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥[1]

अर्थात्—क्रोध पर क्षमा द्वारा, मान पर विनय द्वारा, माया पर आर्जव द्वारा और लोभ पर सन्तोष द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है।

कषायों पर विजय प्राप्त करने वाला सुख-शान्ति अनुभव कर पाता है और वही मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी भी हो सकता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है—

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, न कुव्वइ पावं न कारवेइ॥[2]

अर्थात्—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार आध्यात्मिक दोष हैं, जो आत्मा के सद्‌गुणों को नष्ट करने वाले हैं। साधक जब इन दोषों को दूर कर देता है तभी वह अर्हन्त पद प्राप्त कर पाता है। अतः क्रोधादि न तो स्वयं करना चाहिये और न ही अन्य किसी को करने का अवसर देना चाहिए।

अयोग संवर

मन, वचन और काय को विकृत करने वाली वृत्तियों का निग्रह—अयोग है। मन, वचन और काय की दुष्ट प्रवृत्तियाँ—'योग' कही जाती है। किसी के लिए अमंगल कामना करना, ईर्ष्या या वैरभाव रखना मन का योग है। अप्रिय वचन प्रयोग, परनिन्दा, मिथ्या दोषारोपण आदि वचन विषयक योग है और किसी को पीडा पहुँचाना, चोरी करना, आदि काय सम्बन्धी योग हैं। ऐसी प्रवृत्तियों से बचना ही अयोग है। ये योग, जिन से बचना अपेक्षित है—अशुभ योग हैं और अशुभ प्रवृत्तियों के ही जनक है। शुभ योग इनके विपरीत वरेण्य होते हैं। योग तो अपनी यथार्थ स्थिति में शुभ ही होते है। अशुद्ध कषायादि के संसर्ग मे आकर ही ये अशुद्ध या अशुभ हो जाते है। अशुभ योगों से निवृत्ति का प्रयत्न अयोग में चिन्त्य रहा करता है।

---

१ दशवैकालिक, ८।३९
२ सूत्रकृतांग ६ २६

अशुभ वृत्तियों को विदाकर शुभ वृत्तियों को स्थापित करने के उपायों की जैन शास्त्रों में सविस्तार चर्चा मिलती है। मन की अशुभ वृत्तियों—पर-अमगल-चिन्तन, ईर्ष्यादि पर विजय प्राप्त करने के लिए क्षमा, संतोष आदि आत्मिक गुणों का चिन्तन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार सर्वप्रिय वचन बोलना, मधुर भाषा का प्रयोग करना, मिथ्या प्रलाप न करना वचन शुद्धता में सहायक होता है। पर-दुख-जनक कार्यों से बचकर यथासभव सुखकारक कार्यों में प्रवृत्त होने से शुभ योग का विधान होता है। मनोयोग बडा सशक्त होता है। यह वचनयोग और काययोग को प्रवृत्ति हेतु प्रेरित-उत्तेजित करता है। मन ही प्रवृत्ति की कल्पना— भावना करता है और तदनन्तर वह वाचिक या कायिक रूप में व्यक्त होता है। अत मनोयोग को शुभ करने का प्रयत्न अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। □

२२

निर्जरा भावना

दुःख-मूल कर्म के द्वार है आश्रव, संवर इनका करे निरोध।
संचित कर्मों का उन्मूलन करे निर्जरा शोध-शोध।।

आत्मा में कर्मों के आगमन के मार्ग, साधन, या स्रोत आश्रव हैं और इन आश्रवों को रुद्ध करना संवर है। यह सत्य है कि कर्मागमन स्रोतों के निरुद्ध हो जाने से आत्मा पर नव-नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है, किन्तु मात्र इतना आत्मा के अम्लान्य के लिए पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। पहले से जो कर्मों का संचय आत्मा में है, करोड़ों भवों से जो संकलित होता चला आ रहा है उस कर्म समुच्चय-जन्य बन्ध को निर्मूल करने की समर्थता संवर में नहीं हो सकती। जलाशय में नालों से जल संग्रह होता है। यदि इस जलाशय को जलविहीन करने का लक्ष्य हो तो नालों को बन्द कर देना मात्र पर्याप्त नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बात की होगी कि पहले से संचित जल को हटाया जाय। या तो उस जल को प्रयत्नपूर्वक उलीचकर बाहर फेंकना होगा, या सूर्यादि के ताप से जल सूख जायगा—तभी जलाशय रिक्त होगा। इसी प्रकार आत्मा में भव-भव से संचित कर्मभार को भी तप द्वारा नष्ट किया जाना होता है और यही निर्जरा है।

यहाँ विचारणीय यह भी है कि आत्मा की सर्वथा निर्मलता के लिए क्या मात्र निर्जरा स्वतः पर्याप्त है? उत्तर होगा—'नहीं'। निर्जरा का सामर्थ्य तो पूर्व संचित कर्मों को निर्मूल करने मात्र तक सीमित है। यदि साधक इसी साधन तक सीमित रह गया तो आत्मशुद्धि के लक्ष्य को प्राप्त न कर पायगा। क्योंकि आश्रव द्वारा नवनवीन कर्मों का प्रवेश होता रहेगा अतः संचित कर्मों के उन्मूलन का साधन निर्जरा अर्थहीन रह जायगा। आत्मा कर्मशून्य नहीं हो पायगी। जैसे सछिद्र नौका में जल भरने लगे और नाविक नौका में भरे जल को उलीचता रहे—तो उसे नौका को डूबने से बचाने के उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। पहले उसे छिद्र को बन्द करना होगा ताकि जलागमन रुक जाय। फिर नौका में भरे जल को बाहर फेंकना होगा। तभी वह नौका को जल से रिक्त कर पायगा। ठीक इसी प्रकार संवर और निर्जरा दोनों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है इनमें से

किसी एक को अपनाना पूर्णतः अपर्याप्त होगा। पहले संवर द्वारा आस्रवनिरोध कर कर्मों का आगमन रुद्ध करना होगा और तदुपरान्त संकलित कर्मों का निर्जरा द्वारा उच्छेदन करना होगा। तभी आत्मा को कर्ममालिन्य से मुक्त किया जा सकेगा।

साधारण भाषा मे निर्जरा का अर्थ झडने की क्रिया से है। जैसे पतझड के समय वृक्ष के पत्ते झड जाते है और पल्लवहीन वृक्ष खडा रह जाता है, वैसे ही निर्जरा से आत्मा के कर्म झड जाते है और कर्मरहित शुद्ध आत्मा शेष रह जाती है। कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने की स्थिति तो मोक्ष है। निर्जरा आंशिक रूप से इस कर्मभार को कम करने का कार्य करती है—

देशेन यः संचितकर्मणां क्षयः
सा निर्जरा प्राज्ञ जनैर्निवेदिता।[1]

ज्ञानादि आठ कर्मों का अमुक अंशो मे क्षय होना, क्रमशः उनका आत्मा से झड जाना, कर्मावरण का थोड़ा-थोडा दूर हटना—निर्जरा है। निर्जरा स्वयं मोक्ष नही है। निर्जरा और मोक्ष के मध्य क्रमशः कारण और कार्य का सम्बन्ध निहित है। निर्जरा तो आत्मा को क्रमिक विकास की ओर अग्रसर करती है जबकि मोक्ष आत्मा के चरम विकास की स्थिति है। यों कहा जा सकता है कि मोक्ष यदि किसी यात्रा का गन्तव्य लक्ष्य है, तो निर्जरा वह यात्रा है या यात्रा का सम्बल मात्र है। कर्मों की फलदायिनी शक्ति को नष्ट कर उन्हे झाड देना, आत्मा के कर्मभार को हलका कर देना—निर्जरा है। यहाँ यह पुनः ध्यातव्य है कि निर्जरा अपना ऐसा प्रभाव समग्र कर्म समुच्चय पर एक साथ नही कर सकती। "**देशेन संचित कर्मणां क्षयो निर्जरा**"—अर्थात् आंशिक रूप मे, क्रमशः कर्मों का नाश होना निर्जरा है।

निर्जरा के भेद

आचार्य हेमचन्द्र ने निर्जरा को पारिभाषित करते हुए उसके दो भेद बताये हैं—

संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता॥

अर्थात्—भवभ्रमण के बीजभूत कर्म हैं। कर्मों का आत्म-प्रदेश से झड जाना अर्थात् पृथक् हो जाना निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—(१) सकाम निर्जरा और (२) अकाम निर्जरा।

अकाम और सकाम—निर्जरा की इस प्रमुख भेद-व्यवस्था को समुचित रूप मे समझने के पूर्व एक अन्य दृष्टि से किये गये भेद को आधारस्वरूप समझ लेना भी प्रासंगिक होगा। इस अन्य भेद व्यवस्थानुसार भी निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा एवं अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो उन कर्मों की होती है जो काल-

---

१ भावना शतक- ६७

क्रमानुसार पककर झड जाने योग्य स्वत ही हो गये हैं जैसे वृक्ष से पके हुए पीले पत्ते स्वत झड जाते हैं किन्तु अविपाक निर्जरा परिपक्व और अपरिपक्व (पके व बिना पके) सभी कर्मों की होती है। कर्मों को उसमें सप्रयत्न झाड़ा जाता है, जैसे वृक्ष को झकझोर कर पीले-हरे दोनों प्रकार के (पके और ताजा) पत्तों को झाड़ दिया जाय। यह प्रयत्न तपादि रूप मे होता है। सविपाक निर्जरा चार गति के सभी जीवों की होती है किन्तु अविपाक निर्जरा सम्यक्दृष्टि व्रतधारियों की ही होती है। सविपाक निर्जरा के अन्तर्गत कर्मों का सहज, स्वाभाविक, स्वत क्षय होता है—इसी आधार पर तो जीवों का तिर्यंच आदि गति मे उत्थान होता है। यह अन्य बात है कि नव-नवीन कर्मबन्ध के कारण उसके विकास की गति भी अवरुद्ध हो जाती है, वे पुन अधःपतित भी हो जाते हैं।

अकाम और सकाम—निर्जरा के इन दो भेदो के सन्दर्भ मे यहाँ इन दोनो के आशय को समझना भी अपेक्षित है। अकाम का अर्थ है कामनाहीनता। निर्जरा तो हुई है, किन्तु वह स्वतः हो गयी ऐसी निर्जरा के सम्बन्ध मे जीव का कोई लक्ष्य नही रहा हो, कोई कामना नही रही हो, वह बेइरादा रहा हो तो निर्जरा अकाम है। इसके विपरीत सकाम का अर्थ है—इच्छासहित जीव जब कर्म-मुक्ति की अभिलाषा और अभीप्सा सहित तदर्थ प्रयत्न करे तो कहा जायगा—कि वह सकाम निर्जरा है।

अकाम निर्जरा

निर्जरा तो तप है जो कर्मों का क्षय कर देता है। तप अवश्य ही कष्टकर होता है और यही कष्ट-सहन कर्मों को क्षीण करता है। यदि तपो के कष्ट को सकल्प-पूर्वक सहन किया जाय तब तो वह सकाम निर्जरा हो जाती है किन्तु यदि किसी विवशता के कारण कष्ट भोगना पड रहा हो तो स्थिति एक दूसरे ही प्रकार की हो जाती है। विवशता के कारण भूख-प्यास सहन करनी पडे, अन्न-जल उपलब्ध नही हो रहा, अथवा पराधीनता के कारण वह स्वय जुटा नही पा रहा तो ऐसी किसी स्थिति मे उसके मन मे अन्न-जल के परित्याग का सकल्प नही है। उसकी तो प्राप्ति की कामना है और अत्यन्त प्रबल कामना है, नियतिवश उसकी कामना पूरी नही हो पा रही। ऐसी अवस्था मे भी जो कष्ट के फलस्वरूप निर्जरा हो जाती है वह अकाम निर्जरा है। इस निर्जरा या कर्मक्षय की कामना उसके मन मे नही है, सकल्प नही है, प्रयत्न नही है।

वत्थगधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई ॥[1]

अर्थात्—जो वस्त्र, गध, अलंकार, स्त्री, शयन-आसन आदि का परवशता के कारण उपभोग नही कर पाता उसे त्यागी नही कहा जा सकता। त्याग के बिना निर्जरा कैसी ! यह अकाम निर्जरा का ही स्वरूप है।

---

१ दशवैकालिकः २।२

अकाम निर्जरा मुख्यतः दो प्रकार से हुआ करती है—(१) अनिच्छापूर्वक और (२) अज्ञानपूर्वक। अनिच्छापूर्वक होने वाली निर्जरा के भी अनेक उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों मे जीव को नाना प्रकार के कष्ट विवशत भोगने पड़ते है, अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती है। बन्दियों को भी अनेक दण्ड, शारीरिक यातना, भूख आदि सहन करनी पड़ती है। ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने को भी विवश होना पड़ता है यहाँ तक कि सुखपूर्वक शयन की सुविधा भी नही होती दारिद्र्य भी अनेक कष्टो को लेकर आता है और व्यक्ति साधनहीनता के कारण अनेक कष्ट भोगने को विवश होता है। रोगियों को कितनी वेदना सहनी पड़ती है। इन कष्टो के कारण भले ही किसी अंश मे कर्मक्षय होता हो किन्तु यह कष्ट-सहन इच्छा-पूर्वक नही है, स्वारोपित नही है तप जैसा स्वैच्छिक नही है। अत यह निर्जरा अकाम है। कर्मक्षय के प्रयोजन और कामना से ये कष्ट नही सहे जाते है। ऐसी निर्जरा के फल भी बड़े अल्प ही होते है। अकाम निर्जरा का दूसरा प्रकार है—अज्ञानपूर्वक कष्ट सहन करना। ऐसे जीव जिन्हे धर्म का ज्ञान नही हो, जो मोक्ष और आत्मा के स्वरूप को नही जानते, वे यदि स्वर्ग प्राप्त करने के प्रयोजन से अथवा इस लोक मे पूज्य और प्रशंसनीय स्थान पाने के लोभ से तप करते है तो कर्मक्षय या मोक्ष की प्राप्ति की कामना के अभाव मे उनका ऐसा तप भी अकाम निर्जरा ही होगी। इस अकामता के पीछे अज्ञान ही कारण है। ऐसे तप का अधिकतम फल यही सम्भाव्य रहता है कि मरण पर जीव छोटी जाति वाले, अल्प ऋद्धि वाले देववर्ग मे स्थान प्राप्त करले, इस से अधिक नही।

सकाम निर्जरा

निर्जरा के इस रूप मे साधक आत्मा और मुक्ति के स्वरूप को समझता है और मोक्ष प्राप्ति की कामना से वह तप करता है। ऐसी अल्पतम निर्जरा भी अत्युच्च फलदायी हो जाती है। करोड़ो वर्षों की अकाम निर्जरा की अपेक्षा एक पल की सकाम निर्जरा कई गुना अधिक फल देती है। क्योकि उसके पीछे सम्यक्ज्ञान का आधार होता है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की जननी मरुदेवा माता ने हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही पलमात्र मे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, भरत चक्रवर्ती ने भी आरिसा भवन मे बैठे-बैठे किञ्चित् पलो मे ही कैवल्य लाभ कर लिया। इनकी निर्जरा सम्यक्ज्ञानपूर्वक की गयी सकाम निर्जरा थी।

सकाम निर्जरा और तप

अविपाक निर्जरा मे प्रयत्नपूर्वक पकाकर कर्मों को निर्जरित किया जाता है और यह प्रयत्न तप रूप मे ही होता है। दान, शील आदि भाव भी निर्जरा के साधन अवश्य है, तथापि तप प्रमुख और सबलतम साधन माना जाता है और तप मे प्राय. सभी आध्यात्मिक क्रियाओं का समावेश भी हो जाता है। तप संवर रूप मे भी अपनी महत्ता रखता है और निर्जरा रूप मे भी। इस कारण उसकी भूमिका

उभयपक्षीय भी होती है। आगमों में वर्णित है कि जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर उसके मैल को दूर कर देती है, खरा कुन्दन जगमगा उठता है; वैसे ही तप से आत्मा का कर्ममालिन्य छँट जाता है और वह अपने शुद्ध रूप में निखर आती है। तप की व्याख्या इस प्रकार की गयी है —

तापयति अष्टप्रकार कर्म—इति तपः

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो, भस्म कर देता हो, वह तप है। तप काया की कृशता के साथ-साथ क्रोधादि कषाय का विनाश कर आत्मा को निर्मल बनाता है। शास्त्रों में कहा गया है कि इच्छाओं का निरोध तप है। जब तक इन इच्छाओं का दमन नहीं किया जाय और केवल कामनाविशेष के वशीभूत होकर भूख-प्यास सहन की जाय तो उसे तप नहीं कहा जा सकता है। कुछ तप ऐसे होते हैं जिनमें बाह्य क्रियाओं का बाहुल्य होता है और अन्यजनों के लिए भी दृश्यमान होते हैं—वे बाह्य तप कहलाते हैं। इसके विपरीत आन्तरिक तप में मानसिक क्रियाओं की प्रमुखता होती है। वे आभ्यन्तरिक तप कहलाते हैं। इनमें आन्तरिक प्रवृत्तियों की शुद्धि का लक्ष्य रहता है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तपों के ६-६ उपभेद किये जाते हैं।

बाह्य तप के भेद

(१) अनशन

अशन का अर्थ है आहार। इसका नकारात्मक रूप, अर्थात् अन्न-जल ग्रहण न करना अनशन है। अवधि के आधार पर अनशन दो प्रकार का होता है। वह यदि किसी अवधि के लिए हो तो उसे इत्वरिक अनशन कहा जाता है। इस प्रकार के अनशन की अवधि एक दिन से लेकर ६ माह तक भी हो सकती है। यावत्कथिक अनशन में आजीवन आहार-त्याग किया जाता है। यह मरणकालिक अनशन अथवा संथारा के नाम से भी जाना जाता है। अनशन से मनःशुद्धि तो होती ही है, शारीरिक विकारों का निग्रह भी होता है, अतः "लंघन परमौषध" कहा गया है।

अनशन के विषय में यह भी विधान है कि बल, शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का विचार करके ही शरीर को तपादि क्रियाओं में लगाना चाहिये। आहार-त्याग दिया, किन्तु मानसिक शान्ति न रहे तो वह त्याग भूखों मरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। वह तप भी नहीं है और तप की उपादेयता भी उसमें नहीं रहेगी।

(२) ऊनोदरी

ऊन और उदरी इन दो शब्दों के योग से बने इस शब्द का सरलार्थ है—भूख से कम आहार ग्रहण करना। भूख से अधिक खाना रोगवर्धक हो सकता है, वहाँ कम खाना स्वास्थ्यवर्धक भी होता है और इससे मानसिक संयम बढ़ता है व इन्द्रियों की असद्वृत्तियों पर अंकुश भी लगता है। प्रसिद्ध है कि योगी दिन में एक बार खाता है,

भोगी दो बार और रोगी बार-बार खाता है। ऊनोदरी से संयम का अभ्यास हो जाता है और जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी व्यक्ति संयमी होने की समर्थता अर्जित करता है।

(३) भिक्षाचरी

बाह्य तप के इस प्रकार का सम्बन्ध मुख्यतः श्रमण जीवन से रहता है। मुनिजन शरीर-निर्वाह के लिए अनेक परिवारों से थोड़ा-थोड़ा सा आहार एकत्रित करते हैं। इस तप से मान भावना का दमन होता है और समता में वृद्धि होती है। साधुजन विभिन्न अभिग्रहों द्वारा आहारविषयक आकर्षणों को नियंत्रित भी करते रहते हैं और इच्छानुकूल न होने पर भी जो कुछ भिक्षा में प्राप्त होता है, उसी आहार को ग्रहण कर संतोष करते हैं।

(४) रस-परित्याग

यह रसना-संयम का तप है। स्वादिष्ट भोजन असंयमियों के लिए भूख की अपेक्षा स्वाद के कारण ही अधिक आकर्षक हो जाता है। रोग इसके निश्चित परिणाम हुआ करते हैं। जो स्वाद पर संयम कर लेता है वह खाने के लिए नहीं जीता, अपितु केवल जीने के लिए खाता है। ऐसे व्यक्ति दीर्घजीवी होकर स्व और पर-कल्याण की अधिक साधना कर पाते हैं। रसना-संयम से शारीरिक ही नहीं, वरन् मानसिक एवं आत्मिक स्वस्थता भी बनी रहती है।

(५) कायक्लेश

शरीर को कष्टप्रद स्थिति में रखना काय-क्लेश है। यह भी एक तप है। सुखाधिक्य से शरीर की सहिष्णुता क्षमता घटती है और जीवन-विकास रुक जाता है। आत्म-शुद्धि के लिए भी शरीर को कसकर रखना आवश्यक हो जाता है। आत्मा को तपा कर निखारने के लिए शरीर को तपाना ही होगा। जैसे घृत को तभी तपाया जा सकता है जब उस पात्र को तपाया जाय जिसमें घृत भरा है। घृत-पात्र और घृत जैसा ही सम्बन्ध शरीर और आत्मा के मध्य है। भूख-प्यास, ध्यान, आसनादि से शरीर को कष्ट तो होता है पर आत्मा उसी से शुद्ध होती है।

(६) प्रतिसंलीनता

मन को असद्वृत्तियों से हटाकर उसका निग्रह करना, उसे सद्वृत्तियों में लीन करना ही बाह्य तप का छठा भेद प्रतिसंलीनता है। यह तप मन को आत्मरमण का अभ्यास कराता है। प्रतिसंलीनता के भी ४ भेद हैं। इन्द्रियों को विषयाभिमुख होने से रोकना, विषयों के प्रति रागद्वेष उत्पत्ति का निरोध करना तथा समभाव रखना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। मान, माया, लोभ, क्रोध—इन कषायों का विवेक-पूर्वक शमन करना कषाय प्रतिसंलीनता है। अशुभ से हटाकर मन, वचन, काया को शुभ प्रवृत्तियों में लगाना; सेवा, स्वाध्याय आदि में रत रहना योग प्रतिसंलीनता

कहलाती है। और संयम-पालन में सहायक वातावरण में रहना विविक्तशय्यासन सेवना है।

आभ्यन्तर तप

(१) प्रायश्चित्त

कृत पापों या दोषों की शुद्धि प्रायश्चित्त है। प्रमादवश या अनजाने में भूल हो जाने पर ग्लानि या पश्चात्ताप का होना वह साधन है जिससे पाप भार कम होने लगता है। सतर्कतापूर्वक उस भूल से भविष्य में बचने का प्रयास भी पश्चात्ताप से होने लगता है और इस प्रकार नव-बन्ध का निरोध भी होने लगता है। प्रायश्चित्त मन की प्रवृत्ति है और इस प्रकार यह आभ्यन्तर तप है।

(२) विनय

नम्रता—नियम-पालन और अनुशासनप्रियता का विकास करती है। गुरु-अनुशासन में रहना, कनिष्ठजन के प्रति स्नेह-वात्सल्यभाव के साथ व्यवहार करना आदि विनय के लक्षण है। दशवैकालिक में कहा गया है कि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका फल है। गुरुजनों के प्रति सम्मान का भाव रखने वाला स्वयं भी अन्यजनों से अपेक्षित सम्मान प्राप्त करता है। पालन में विनय अत्यन्त सरल है।

(३) वैय्यावृत्य

वैय्यावृत्य का अर्थ है सेवा करना। सेवा को शास्त्रों में एक कठिन कार्य बताया गया है। सेवा में आत्म-समर्पण की भावना निहित रहती है। सुख-सुविधाओं के त्याग बिना सेवा कार्य सम्पन्न नहीं होते। सेवा करने से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म की प्राप्ति होती है। सेव्य पात्रों के अनुसार सेवा के दस प्रकार माने गये है जो निम्नलिखित की की गयी सेवाएँ है—

(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) शैक्ष (नवदीक्षित) (४) रोगी (५) गण (६) कुल (७) संघ (८) साधु (९) तपस्वी और (१०) साधर्मिक जन।

(४) स्वाध्याय

सत्शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। अध्ययन से मन केन्द्रित होकर असद्वृत्तियो से हटता है, ज्ञान-राशि का विकास होता है। स्वाध्याय के ५ प्रकार माने गये है—ग्रन्थ का पाठ करना वाचना है। विशेष ज्ञान प्राप्ति के प्रयोजन से पुनः पुनः जिज्ञासायुक्त प्रश्न करना पृच्छना है। अध्ययन को सुदृढ बनाने के प्रयोजन से की जाने वाली आवृत्ति-पुनरावृत्ति को परिवर्तना कहा जाता है। अभ्यास को स्थायी रूप देने के लिए किया जाने वाला चिन्तन अनुप्रेक्षा है। जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे अन्य जनो को लाभान्वित करने के प्रयोजन से अर्जित ज्ञान सम्बन्धी चर्चा करना धर्मकथा है।

(५) ध्यान

विषय विशेष पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है मन चचल और सदा गतिशील रहता है। कभी उसकी दिशा शुभ विचारो की रहती है तो कभी अशुभ विचारो की। मन को अशुभ से हटाकर शुभ विचारो में स्थिर करना और रखना ध्यान है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—ध्यान के ये चार भेद हैं, जिनमे से आरम्भ के दो भेद सासारिक अशुभ विचारो के होने से ससार के कारण बनते है। अन्तिम दो भेद शुभ हैं, अत ये ध्यान मोक्ष के साधन रूप मे स्वीकृत होते है।

(६) व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग का अर्थ है विधिपूर्वक त्याग। पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग करना, आत्म-विकारो का त्याग करना—व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग तप करने वाला त्याग भावना की इतनी ऊँचाई पर पहुंच जाता है कि शरीर को भी पर मानकर उसे विस्मृत और उपेक्षित कर देता है। इस आधार पर इसे कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। इस तप का आराधक कठोर परीषह देने वाले दुष्टो के प्रहारो से भी आकुल नही होता। उसकी साधना मे आस्था बढती ही रहती है। साधक इसमे शरीर के प्रति सर्वथा आसक्तिहीन हो जाता है। □

२३

धर्म भावना

पतन काल में थाम, मनुज को धर्म ही धारण करता है।
शुद्धाचार है धर्म, धर्म से मुक्ति-मार्ग निखरता है॥

धर्म मनुष्य को संयमित रखकर मोक्ष प्रदान करता है। इस दृष्टि से पूर्व में वर्णित संवर और निर्जरा दोनों कर्मक्षय की महती भूमिका में परस्पर सहयोगी बनकर मोक्ष स्थिति को सुलभ कराने वाले दो धर्मरूप हैं—संवर धर्म एवं निर्जरा धर्म। धर्म मनुष्य के जीवन एवं मानस का एक अभिन्न अंग है। जीवन का स्वरूप आमूल-चूल परिवर्तित हो जाने पर भी उसमें धर्म का स्थान अब भी है और उतना ही आदरणीय है। अस्तु धर्म के सम्बन्ध में सभी परिचय रखते है, किन्तु अज्ञानवशात् या स्वार्थवशात् कतिपय वर्गों द्वारा धर्म के ऐसे-ऐसे रूप खडे किये गये हैं कि सामान्य जन संशय में पडता जा रहा है और धर्म का यथार्थ स्वरूप भी प्रच्छन्न होने लगा है। ऐसी अवस्था में धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप मे समझ लेने की अपेक्षा दृष्टिगत होने लगी है।

धर्म का आशय है धारण करने वाला। मनुष्य को दुर्गति में गिरते हुए थाम लेने या धारण कर लेने वाला तत्व ही धर्म है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में धर्म की व्याख्या इसी रूप में की है—**'दुर्गति-प्रपतद् प्राणी-धारणाद् धर्म उच्यते।'** धारण करने की विशेषता के कारण ही वह धर्म कहलाता है। इसने समस्त सृष्टि को धारण कर रखा है, जगत की समस्त वस्तुएँ एवं शक्तियाँ धर्म के कारण ही यथा-स्थान है और स्वरूप में परस्पर सहयोगी बनी हुई संचालित है। यह विश्वाधार है। यह विश्वस्थिति के लिए आधारभूत है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव होता है वही स्वरूप है और वही उसका धर्म है। शुद्धता और ज्योतिर्मयता आत्मा का स्वभाव है। कर्ममालिन्य उसे अशुद्ध और हततेज करता है। धर्म कर्मों की मलिनता क्षीण कर आत्मा को उसके स्वरूप मे पुन स्थिर करता है, मुक्त कर देता है।

आचार अथवा सच्चरित्र को धर्म का लक्षण बताते हुए महाभारत में कहा गया है—**'आचारलक्षणो धर्म.'** और जैन शास्त्रानुसार लगभग इसी रूप में **'अहिंसा लक्षणो धर्मः'** कहकर धर्म की व्याख्या की गयी है। **अहिंसा की भावभूमि इतनी**

व्यापक है कि समस्त सदाचार उसमे सन्निहित हो जाता है आगमो मे धर्म के दो रूप वर्णित हैं—(१) श्रुतधर्म और (२) चारित्रधर्म।

श्रुत का आशय ज्ञान से है और चारित्र का अर्थ है आचार। यह क्रम आचार के पहले विचार की अवस्था ही है। जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उस लक्ष्य और उस तक पहुँचने के मार्ग का यात्रा के पूर्व ज्ञान हो जाना आवश्यक है। तभी यात्रा सफल हो सकती है, गन्तव्यस्थल पर पहुँचना शक्य हो सकता है अन्यथा भटकन मात्र ही हाथ लगती है। यथा जीव पर दया करने का धर्म तभी पाला जा सकता है जब यह ज्ञान हो कि जीव कैसे-कैसे है और दया मे अर्थ उनके साथ किस प्रकार के व्यवहार का है। इस ज्ञान के पश्चात ही आचार सम्भव है। अत पहले श्रुतधर्म को स्थान दिया है। वस्तुतत्व का सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना प्रथम और फिर प्राप्त ज्ञानानुसार आचरण करना धर्म का द्वितीय चरण है। इनमे से कोई एक चरण धर्म के समग्र स्वरूप के लिए पर्याप्त नही होता। इन दोनो के संयोग से ही मोक्ष सम्भव है। सूत्रकृतांग (१।१२।११) मे भी यही कहा गया है—"**आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खो।**"

इसी वर्गीकरण को इस रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है—

(१) विचारात्मक धर्म और (२) आचारात्मक धर्म।

विचारात्मक धर्म के अन्तर्गत तो वही तत्व की सम्यक् परीक्षा, विचारों का अनाग्रह, सहिष्णुता और प्रत्येक विचार के प्रति सम्यक्विवेक आदि आते है और आचारात्मक धर्म का लक्ष्य आत्मा की निर्मलता और जीवन व्यवहार की शुद्धता होती है।

धर्म के ४ द्वार माने गये है—क्षमा, सन्तोष, विनय और सरलता।

चत्तारि धम्मदारा,
खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे।"[1]

एक अन्य दृष्टिकोण से वर्णित धर्म के ४ प्रकार और भी मिलते है—

दानं च शीलं च तपश्चभावो धर्मश्चतुर्धा जिन बांधवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय स मानसे मे रमतामजस्रम्॥[2]

अर्थात्—दान, शील, तप और शुद्ध भावना—जगत के कल्याण के लिए विश्वबन्धु जिनेश्वर भगवान ने धर्म के ये ४ प्रकार बताये है। 'दान' की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"**स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानं**" अर्थात्—अपने और अन्य के कल्याण के लिए किया गया वितरण दान है। दान से दान-प्राप्तिकर्ता ही लाभान्वित नही होता उससे पुण्य-लाभ दानकर्ता को भी होता है। सुपात्रदान, अभयदान, विद्या-

---

१. स्थानांग, ४।४ ३८

२ शान्त सुधारस १

दानादि दान के अनेक प्रकार हैं जिनमे जीवनदान से सम्बद्ध होने के कारण अभयदान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शील का अर्थ ब्रह्मचर्य या सदाचार है जो मोक्ष का द्वार माना गया है। भगवान महावीर ने तो ब्रह्मचर्य को भगवान की ही संज्ञा दे दी है। ब्रह्मचर्याराधना मे सभी धर्मों की आराधना हो जाती है। तप और भावना धर्म के शेष दो प्रकार हैं जो इस प्रबन्ध में यथास्थान सविस्तार वर्णित हैं।

जैनधर्म मे पचमहाव्रतो का प्राधान्यपूर्ण स्थान है। ये व्रत चारित्रधर्म के ही ५ भेदो के रूप मे है—

अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

उत्तराध्ययन में वर्णित है कि विद्वान, जिन-वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट इन पच महाव्रतो के रूप मे चारित्रधर्म स्वीकार करे। इससे आत्मा निर्वाण को प्राप्त करती है। चारित्र सम्बन्धी २५ भावनाओ के विवेचन के प्रसग मे पच महाव्रतो का वर्णन प्राप्य है। शास्त्रो मे इन्ही 'पाँच व्रतो' की व्याख्या को और व्यापक रूप देते हुए १० धर्म-भेद वाली व्यवस्था भी दी गयी है।

दसविहे समणधम्मे—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे
सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे।

इस प्रकार ये १० श्रमणधर्म है—

(१) क्षमा, (२) मुक्ति—निर्लोभता, (३) आर्जव—सरलता, (४) मार्दव—विनय, (५) लाघव—अकिंचनता, (६) सत्य, (७) संयम, (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

धर्म को किसी भी रूप मे स्वीकारें और किसी भी भेदोपभेद व्यवस्था मे समझें, किन्तु धर्म का एक ही रूप जो सामने आता है, वह यही है कि आत्म-शुद्धि का साधन धर्म है अथवा मोक्ष का उपाय धर्म है।

धर्म भावना के चिन्तन के अन्तर्गत धर्म के इस शुद्ध स्वरूप का विचार किया जाता है और उसके विभिन्न साधना मार्गों को समझा जाता है। धर्म साधना करके जो परलोक गमन करता है उसकी यात्रा सुखद हो जाती है—हम इस तथ्य पर भी चिन्तन करें और धर्म मे अपनी श्रद्धा को सुदृढ बनाते हुए आचरण मे धर्म को साकार करे। ☐

लोक भावना

लोक नित्य, षड्द्रव्य विनिर्मित जीव शुभाशुभ गति अवदान ।
धर्माधर्म, पाप-पुण्यों का क्षेत्र, आत्म-साधना का है स्थान ॥

धर्म साधना साधकों के लिए ही कल्याणकारी हो सकती है। जड़ पदार्थ तो स्पष्टतः ही साधना का सामर्थ्य नहीं रखते, किन्तु जीवों के भी जो अनेक वर्ग हैं वे भी सभी साधना के योग्य हों—ऐसा नहीं है। अकेली मानव जाति ही धर्मावलम्बी होकर मोक्षार्थ साधना में प्रवृत्त हो सकती है। वही जीवों के अन्य सभी वर्गों में सर्वश्रेष्ठ है। देव और नारक वर्ग अपने कर्मफलों का उपभोग मात्र करते हैं, आत्म-विकास का विधान उनके निमित्त नहीं हुआ करता। तिर्यंच वर्ग में धर्म चैतन्य के लिए यत्किंचित् अवसर अवश्य रहता है किन्तु अल्पसीमा तक ही ये इस दिशा में सक्रिय रह पाते हैं। चरम विकास प्राप्ति का सौभाग्य मात्र मनुष्य को प्राप्त है। ये सभी जीवधारी लोक में ही रहते हैं, चाहे वे अशुद्ध स्थिति में हों और चाहे सर्वथा शुद्धावस्था को प्राप्त हो गये हों। लोक ही में वे आत्मोत्थान की साधना में लगे रहते हैं। ऐसे लोक, उसके तत्त्व उसकी प्रवृत्ति और प्रकृति के विषय में ज्ञान होना भी अपेक्षित है।

सामान्यतः लोक का अर्थ है जीव-समूह और उनका प्रवास स्थल। मनुष्य भी इस प्रकार लोक के अन्तर्गत अध्ययन का एक विषय-बिन्दु है। मनुष्य का यह स्वाध्ययन है। आध्यात्मिक विकासाभिलाषी जन आत्मा व लोक के प्रति अपलाप नहीं करता। लोक के प्रति शंका अन्यार्थ में अपनी आत्मा के सम्बन्ध में भी शंका की द्योतक होती है। इसके समानान्तर यह भी कहा जा सकता है कि जो अपनी आत्मा का चिन्तन करता है वह लोक का चिन्तन भी करता है। सूत्रकृतांग (श्रु० २, अध्ययन ५, गाथा १२) में कहा गया है "यह विश्वास मत करो कि लोक और अलोक नहीं है। यह विश्वास करो कि लोक है, अलोक है, लोक में जीव और अजीव हैं, धर्म-अधर्म-आत्मादि द्रव्य है, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष है।" इस प्रकार लोक में आस्था और लोक का चिन्तन मनुष्य को आत्मचिन्तन की ओर उन्मुख कर देता है।

लोक क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? लोक है कहाँ? यह प्रश्नों को उत्तरित

करने के क्रम मे कहा जा सकता है कि जहाँ सभी प्रकार के पदार्थ—जड और चेतन, स्थावर और जंगम—देखे जाते है, जहाँ जीव अपने पाप-पुण्य के फलो का वेदन करते है—वह लोक है। पदार्थ मे होने वाली, या पदार्थ द्वारा की जाने वाली सारी क्रियायें भी लोक के क्षेत्र मे ही सम्पन्न होती हैं। सब द्रव्यो का आधार लोक ही है। उत्तराध्ययनसूत्र (२८।७) मे भी इसी आशय की अभिव्यक्ति पायी जाती है—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहि॥

अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव जहाँ पाये जाते है, उसे सर्वदर्शी जिनेश्वरदेव ने लोक कहा है। (इस उक्ति से यह सन्दर्भ भी मिल जाता है कि) लोकरचना मे सम्मिलित ये ६ अंग है, लोक का कोई भाग ऐसा नही जहाँ ये ६ द्रव्य उपस्थित न हो। इस प्रकार लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक है। ये द्रव्य अनादि और अनन्त है, न तो कभी सत् से असत् की उत्पत्ति होती है और न कभी सत् का विनाश होती है।

लोक जिन षड्द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव) का समुच्चय माना जाता है, उनमे से आदि के पाँच अजीव है और सप्राण केवल अन्तिम (छठा) द्रव्य है। आरम्भ के पाँच अजीव द्रव्यों मे से पाँचवे—अर्थात् पुद्गल को छोड शेष ४ द्रव्य अरूपी या अमूर्त है। केवल पुद्गल ही रूपी या मूर्त है। जिस द्रव्य मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध न हों वह अरूपी और जिसमे ये हो वे रूपी कहलाते है। जो रूपी द्रव्य है वे ही मूर्त भी हैं। जीव के विषय में भी यह प्रश्न हो सकता है कि वह रूपी है अथवा अरूपी? स्वभावतः जीव अरूपी द्रव्य है, किन्तु जब तक वह रागादि परिणामों द्वारा पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है नाना योनियों मे जन्म-मरण भ्रमण करता रहता है और देहधारी रहता है—वह रूपी बना रहता है। कर्मों के क्षय हो जाने पर जब जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मुक्ति लाभ कर लेता है तो वह अपनी स्वाभाविक अरूपी अवस्था को स्थायी रूप मे ग्रहण कर लेता है।

(१) धर्म द्रव्य

गई लक्खणो उ धम्मो। —उत्तराध्ययन २८/९

धर्म गति-सहायक द्रव्य है।

जीव और पुद्गल दोनो रूपी हैं और दोनों ही गतिशील रहने की क्षमता वाले हैं। इनकी गति में सहायक तत्व धर्म है। धर्म इन्हे गति नही देता, न ही गतिशील होने को प्रेरित करता है। गति तो उनका स्वाभाविक गुण है। धर्म गतिशीलता का सहकारी तत्व बनता है।

(२) अधर्म द्रव्य

अहम्मो ठाणलक्खणो —उत्तराध्ययन २८/९

अधर्म स्थिति सहायक द्रव्य है

धर्म से विपरीत लक्षण वाला अधर्म द्रव्य, जीव और पुद्गलों की स्थिति या स्थिरता में सहायक बनता है। पुद्गलों को रोककर यह स्थिर नहीं कर देता, स्थिरता तो उनका अपना गुण है। अधर्म तो इस गुण-निर्वाह में सहकारी रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह मात्र करता है, जैसे पथिक के लिए वृक्ष की सघन छाया होती है।

(३) आकाश द्रव्य

सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला, आधार या आश्रय देने वाला द्रव्य आकाश है। समस्त जीवों का आवास आकाश में ही है। यह अवकाशदायी आकाश समग्र आकाश का एक भाग विशेष है। इस प्रकार आकाश तो अनन्त है। इस अनन्त आकाश के जितने भाग में द्रव्यावास है, वह लोकाकाश और शेष अलोकाकाश कहलाता है।

(४) काल द्रव्य

जो द्रव्यों के नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं में परिवर्तन में निमित्त रूप में सहायक होता है—वह काल द्रव्य है। काल के भी दो प्रकार होते है—(१) क्रिया रूप और (२) वर्तना रूप। सूर्य-चन्द्र क्रिया रूप काल है। इन्ही से घडी, घण्टा, दिन-रात, पक्ष-माह का गठन होता रहता है। मात्र ढाई द्वीपों में ही क्रियारूप काल का कार्यक्षेत्र रहता है क्योंकि मात्र इसी क्षेत्र में सूर्य-चन्द्र की गति रहती है। द्रव्यों के पर्याय-परिवर्तन रूप में वर्तनारूप काल का परिचय मिलता है। बाल, युवा, वृद्ध, नया, पुराना, ज्येष्ठता, कनिष्ठता आदि का लोक व्यवहार वर्तना काल की सहायता से ही होता है।

(५) पुद्गल द्रव्य

सद्दन्धयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गंध-फासा-पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

जिनमे रूप, रस, गंध और स्पर्श है; अर्थात् जो देखी जा सकती है, चखी जा सकती है, सूँघी जा सकती है और छुई जा सकती है वे सब वस्तुएँ पुद्गल द्रव्य हैं।

शीतल, गर्म, रूखा, चिकना, हलका, भारी, कोमल और कर्कश—स्पर्श के ये आठ भेद हैं। इसी प्रकार रूप के ५, रस के ५ और गंध के २—योग २० गुण पुद्गल के होते हैं।

'पुद्' और 'गल' के योग से बने पुद्गल में पूरण और गलन होता रहता है। कहा गया है—"पूरणाद् गलनाद् पुद्गल."। अपने इन दोनों प्रकार के स्वभाव के कारण पुद्गल पिण्ड रूप में भी मिलता है और इतना सूक्ष्म रूप में भी कि उसके कण को और विखण्डित न किया जा सके। इनमें से प्रथम पिण्ड रूप स्कन्ध और द्वितीय सूक्ष्म रूप परमाणु कहलाता है पिण्ड—दो या अधिक परमाणुओं का

संश्लिष्ट योग रूप है। इसके विपरीत पिण्ड के विघटन से उत्पन्न वे सूक्ष्म कण जिन के अब दो भाग भी नही किये जा सकते हो—परमाणु कहलाते है। परमाणु स्वयं ही अपने आदि, मध्य और अन्त है। ये इन्द्रिय सामर्थ्य द्वारा ग्राह्य भी नहीं होते है।

पिण्ड अथवा परमाणु—पुद्गल किसी भी अवस्था मे क्यों न हों उनमें पूरण-गलनात्मक परिवर्तन सतत रूप से होता रहता है और वे अपने रूप-रस आदि स्वाभाविक गुणों का भी निर्वाह करते रहते है। प्रत्येक पुद्गल में ये चारो गुण विद्यमान होते है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। इतना अवश्य है, किसी पुद्गल मे किसी एक गुण का प्राधान्य होने के कारण शेष गुण गौण रूप मे ही विद्यमान रहें—ऐसा हो सकता है और सामान्यत हम उस प्रधान गुण की महत्ता को ही प्रकटत अनुभव कर पाएँ। विज्ञान की भाषा मे इन्ही पुद्गलो के लिए पदार्थ या 'मैटर' शब्द है। न्याय-वैशेषिक दर्शन मे भौतिक तत्व, सांख्य दर्शन मे प्रकृति की संज्ञा पुद्गलो के लिए ही व्यवहृत हुई है। बौद्ध दर्शन में भी 'पुद्गल' शब्द का व्यवहार पाया जाता है, जहाँ इसका उपयोग विज्ञान-संतति के लिए किया गया है। जैन मान्यताओं मे देहयुक्त आत्मा को भी पुद्गल रूप मे स्वीकृति मिली है। सामान्यत पुद्गल वही है जिन्हें ग्रहण किया जा सकता है, जो रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श युक्त—'रूपी' द्रव्य हैं।

(६) जीव द्रव्य

'जीवो उवओग लक्खणो।' —उत्तराध्ययन २८/१०

जीव का लक्षण उपयोग है।

जीव के चेतन परिणामो को ही उपयोग कहा जाता है। उपयोग जीव का ऐसा लक्षण है जो अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता है और जो इसी आधार पर द्रव्यो के मध्य जीव की एक पृथक् कोटि निर्धारित कर देता है। जीव सचेतन और जड अचेतन कहलाते है। आगमो के अनुसार इस उपयोग के दो भेद हैं—(१) साकारोपयोग और (२) निराकारोपयोग। ये ही क्रमश. 'ज्ञान' और 'दर्शन' हैं। अर्थात् जिनमे ज्ञान और दर्शन रूपी उपयोग पाये जाते हैं—वे जीव है। उत्तराध्ययन में इसी तथ्य के व्यापक रूप को यों प्रकट किया गया है—

नाणं च दंसण चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग—जीव के ये लक्षण हैं। सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत इन गुणों मे जीव के समस्त असख्यात गुण समाविष्ट है। जब आत्मा इन गुणों का उल्लेखनीय विकास कर लेती है तो जीव मे ये स्पष्टतः परिलक्षित होने लग जाते हैं। अन्यथा ये प्रच्छन्न या सुप्तावस्था मे विद्यमान रहते हैं। जो उपयोगमय है अमूर्त है कर्त्ता है प्राप्त शरीर के बराबर है भोक्ता है संसार में स्थित है सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है वह जीव है

(१) कर्म सहित और (२) कर्म रहित—जीव के ये दो प्रकार माने गये है। कर्म सहित जीव संसारी है, जन्म-मरण द्वारा विभिन्न शरीर धारण करते रहते हैं, पौद्गलिक पदार्थो से सम्बद्ध होने के कारण सुख-दुखात्मक अनुभवयुक्त होते है। कर्मरहित जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते है, पुद्गल-सम्बद्ध न होने के कारण वे भौतिक सुख-दुःखो से परे होते हैं।

ये षड्द्रव्य एकाकार स्थिति मे रहते है—परस्पर घुले-मिले रहते है और तब भी अपने पृथक् गुणधर्म से युक्त रहते है। षड्द्रव्यो की अपने स्वभाव मे स्थिति ही लोक है। षड्द्रव्यात्मक लोक-रचना की इस व्यापक व्याख्या से हमे यह आभास हो सके कि हमारा आवास यह लोक है और लोक के सभी पुद्गल—'पर' है, 'जड़' है। मात्र जीव ही लोक मे चेतन है जो अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियो से कर्मोपार्जन कर उनका फलभोक्ता बनता है।

लोक की स्थिति और आधार

सर्वज्ञ प्रभु महावीर स्वामी द्वारा लोक की स्थिति का आठ प्रकार से प्रतिपादन किया गया है—

(१) वात—तनुवात आकाश-प्रतिष्ठित है।
(२) उदधि—घनोदधि वात-प्रतिष्ठित है।
(३) पृथ्वी—उदधि प्रतिष्ठित है।
(४) त्रस और स्थावर प्राणी—पृथ्वी-प्रतिष्ठित है।
(५) अजीव—जीव-प्रतिष्ठित है।
(६) जीव—कर्म-प्रतिष्ठित है।
(७) अजीव—जीव से सगृहीत है।
(८) जीव—कर्म से संग्रहीत है।

त्रस, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है, वायु का आधार आकाश है। जीवाजीव सभी पदार्थ पृथ्वी पर आधारित है इसे स्वीकार करते हुए भी कतिपय जैनेतर दर्शनो की मान्यता है कि पृथ्वी शेषनाग के फनो पर अवस्थित है और इसके विपरीत जैन दर्शन की मान्यता है कि पृथ्वी का आधार उदधि है और उदधि का आधार वात है।

पृथ्वी के आधार घनोदधि का भी व्यापक विस्तार है। अधोभाग मे ७ पृथ्वियाँ और है जो सात नरक है। प्रत्येक के चारो ओर अपनी-अपनी पृथक् घनोदधि है। घनोदधि चारो ओर से लिपटा हुआ जलजातीय, घृतवत् जमे हुए पदार्थ का आवरण होता है। नीचे की घनवात की मोटाई २० योजन है। वहाँ से एक-एक प्रदेश ऊपर से ऊपर आकार मे छोटा होता गया है और सबसे ऊपर वह केवल ६ योजन का रह गया है। यह घनोदधि घन वायु से घिरी है। यह घनवात तनुवात से आवृत है जिसका रूप तपे हुए घृत के समान हैं। ऊपर से नीचे की ओर इस आवरण की मोटाई भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली गयी है तनुवात के नीचे अप्रमाण है ७वें नरक

के आकाश से असंख्यात योजन दूर तक धर्मास्तिकायादि ५ द्रव्य पूरे होते है और वही लोक की सीमा समाप्त हो जाती है। जीवाजीव-समुच्चय रूप यह लोक असख्य योजन पर्यन्त व्याप्त है और क्रमश. घनोदधि, घनवात और तनुवात से लिपटा हुआ है तथा इस रूप मे आकाश मे स्थित है।

लोक का आकार

लोक का आकार नीचे से ऊपर को गये ऐसे स्तम्भ रूप का है जो अपने आधार निम्नतम भाग मे सर्वाधिक फैला हुआ है और ऊपर की ओर बढते हुए सकरा हो गया। अपनी इस अधिकतम संकीर्णता की अवस्था से यह पुनः चौड़ाई मे बढता गया है और एक सीमा से आगे वह पुन सकुचित होता गया है। जैसे एक डुगडुगी को धरती पर रखकर उस पर मिट्टी का एक बडा दिया (दीपक) उलटा रख देने पर जो आकृति बनती है, वैसी लोक की आकृति हे। इस आकृति को समझने के लिए एक अन्य रूपक का आश्रय भी लिया जा सकता है। मिट्टी का एक बडा सकोरा धरती पर उलट कर रख दिया जाय, उस पर एक छोटा सकोरा सीधा और उस पर भी एक छोटा सकोरा उलटा रख दिया जाय तो जो आकृति खडी हो जाती है—लगभग वैसी ही आकृति लोक की है। लोक को 'पुरुषाकार' भी कहा गया है। कटि पर दोनों हाथ जमाए हुए पैर फैलाकर नृत्य मुद्रा मे खड़े पुरुष के समान लोकाकृति दिखायी देती है।

अधः, मध्य और ऊर्ध्व—लोक के ये तीन भाग है। मध्य बिन्दु मेरु पर्वत के मूल मे है और यही मध्यलोक के बीचोबीच मे जम्बूद्वीप अवस्थित है। जम्बूद्वीप के भी ठीक मध्य मे मेरुपर्वत है। मेरुपर्वत के नीचे ९०० योजन के पश्चात् अधो-लोक आरम्भ हो जाता है। मध्यलोक के ऊपर सभी क्षेत्र मुक्ति स्थान पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक की अपेक्षा अधोलोक अधिक व्यापक और बडा है जिसमे ७ पृथ्वियाँ है।

अधोलोक

जीव अपने घोर अशुभ कर्मो, अर्थात्—पापो का फल भोगने के लिए नरक मे जन्म लेते है। यही अधोलोक है। अधोलोक के जीव नैरयिक या नारक कहलाते है। संख्या मे ये नरक ७ है—

(१) **रत्नप्रभा**—यह पृथ्वी कृष्णवर्णीय भयंकर रत्नो से भरी है। इसके ३ खण्ड है। खरकाण्ड मे ये सब प्रकार के रत्न है, पंकबहुल काण्ड मे कीचड का आधिक्य है अप्बहुलकाण्ड मे जल की विशेषता है। एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई वाली इस पृथ्वी मे ऊपर से नीचे १३ पाथड़े या पृथ्वी पिण्ड है अर्थात् इनके मध्य १२ रिक्त स्थान है। इन पाथड़ों या पिण्डों मे जीवों के निवासार्थ स्थल है। पहले दो रिक्त स्थानो—आतरों को छोड़, शेष मे भवनपति देवो का निवास है। इस प्रथम नरक मे ३० लाख नारक जीवों का निवास है।

(२) **शर्कराप्रभा**—यह पृथ्वी बर्छी भालों से भी तीक्ष्ण प्रस्तर खण्डों से भरी

है। इसमें ११ पाथड़े और दस अन्तर हैं। इसमें २५ लाख जीव नरकवास भोगते हैं। यहाँ जघन्य आयु एक सागर और उत्कृष्ट आयु ३ सागर की रहती है।

(३) **बालुकाप्रभा**—गर्म बालू से भरी यह पृथ्वी नौ पाथड़े और आठ अन्तर वाली है। यहाँ १५ लाख नारकों का वास होता है और यहाँ की जघन्य आयु ३ सागर एवं उत्कृष्ट आयु ७ सागर की होती है।

(४) **पंकप्रभा**—रक्त, मांस, पीव आदि घृण्य पदार्थों से भरी यह पृथ्वी १० लाख नारकों की आवास है। यहाँ की आयु ७ से १० सागर की रहती है।

(५) **धूम्रप्रभा**—मिर्च आदि के कष्टकर धुएँ से भरी यह पृथ्वी ५ पाथड़े और ४ अन्तर वाली है जिसमें ३ लाख नारक हैं। १० से १७ सागर की यहाँ की आयु रहती है।

(६) **तमःप्रभा**—घोर अन्धकार भरी इस पृथ्वी में ३ पाथड़े और दो अन्तर हैं। ५ कम एक लाख नारकों के आवास वाले इस नरक की आयु १७ से २२ सागर की होती है।

(७) **महातमःप्रभा**—अत्यन्त घना अन्धकार इस नरक में व्याप्त रहता है। केवल एक पाथड़ा होने से यहाँ कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ की आयु २२ से ३३ सागर की होती है।

इस प्रकार ये ८४ लाख नारक जीव इन ७ नरकभूमियों में वास करते हैं और एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं। प्रथम ३ नरकों में परमाधार्मिक देवता जाकर उन्हें कष्ट देते हैं। इसके अतिरिक्त इन नारकों की अपनी-अपनी क्षेत्रीय वेदना रहती ही है। प्रथम तीन नरकों में शीत योनियाँ हैं, चौथे व पाँचवे नरक में शीत और उष्ण दोनों प्रकार की और शेष दो नरकों में उष्ण योनियाँ हैं। शीत भी अति पर होता है और उष्णता इतनी तीव्र कि सुमेरु पर्वत जैसा लोह खंड भी गल जाय।

मध्यलोक

लोक का यह मध्यभाग मनुष्य-संकुल होने के कारण मनुष्य लोक के नाम से भी जाना जाता है, यद्यपि यहाँ ज्योतिष्क देवों और तिर्यंच जीवों का भी निवास होता है। मनुष्य का निवास मध्यलोक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। मध्यलोक के जितने द्वीप और समुद्र हैं, चूड़ी के आकार में होकर ऐसे फैले हैं कि छोटा अपने से बड़े द्वारा घिरा हुआ है। ये भूमि पर तिरछे विस्तार के साथ फैले होने के कारण मध्य-लोक को तिर्यक् लोक की संज्ञा भी देते हैं। इनके मध्य में लवणसमुद्र से घिरा जम्बूद्वीप है। इसके बाहर-बाहर द्वीप और समुद्र के घेरों का एक विशाल क्रम चलता है। जम्बूद्वीप के मध्य में ९९००० योजन ऊँचाई का सुमेरु पर्वत है, जिसका एक हजार योजन भाग भूमिगत है। इस पर्वत पर चार वन है। पहला भद्रशाल वन है, ५०० योजन ऊपर नन्दन वन है जहाँ देवता भी क्रीड़ा करने आते हैं, ६२ हजार ५०० योजन ऊँचाई पर सौमनस वन है, इस से ऊपर चूलिका के आस-पास पाण्डुक

वन है जहाँ तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव आयोजित किये जाते हैं। सुमेरु पर्वत के भूमिगत एक हजार योजन भाग के ऊपरी और निचले एक-एक सौ योजन को छोड़ शेष ८०० योजन भाग में वाणव्यन्तर जाति के देव रहते हैं। ऊपरी सौ योजन के भाग में भी ऊपर के और नीचे के १०-१० योजन भाग को छोड़, शेष ८० योजन भाग में जृम्भक जाति के देवताओं का निवास है। प्रथम नरक की सतह पर भी अनेक द्वीपों में देवता, मनुष्य एवं तिर्यंच जीव रहते हैं। यहीं ज्योतिष्क देवों की राजधानियाँ भी हैं।

सुमेरु पर्वत का जो भाग भूमि के बाहर या ऊपर है, उसमें ७९० योजन ऊँचा ज्योतिष चक्र है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे—ज्योतिषी देवों के ये ५ प्रकार हैं। ११० योजन की ऊँचाई का यह ज्योतिष चक्र है जो धरातल से कुल (७९०+ ११०=९००) नौ सौ योजन ऊँचाई तक है। मनुष्यावास योग्य अढ़ाई द्वीप तक यह ज्योतिष चक्र सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करता है और इस से बाहर का चक्रभाग स्थिर रहता है। मनुष्यलोक में काल गणना, दिन-रात आदि का ज्ञान चन्द्र-सूर्य की गति के आधार पर ही होता है। इस ज्योतिष चक्र की ९०० योजन की ऊँचाई पर मध्य लोक की सीमा समाप्त हो जाती है।

मेरु पर्वत के चहुँ ओर जम्बूद्वीप एक लाख योजन क्षेत्र में फैला हुआ है। दक्षिण से उत्तर की प्रदेश-गणना में पहले भरतक्षेत्र आता है। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र लवणसमुद्र से घिरा है और इसके उत्तर में पूर्व से पश्चिम में फैले हेमवन्त, हरि, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्र हैं। ऐरावत क्षेत्र भी पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर दिशा में समुद्र से घिरा है, शेष ५ भाग पूर्व-पश्चिम में समुद्र से घिरे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के ७ भागों को पृथक् करने वाले इनके बीच-बीच में ६ पर्वत शृंखलाएँ हैं। वर्षधर कहलाने वाले इन पर्वतों के नाम हैं—हिमवान, महाहिमवान, निषधगिरि, नीलगिरि, रुक्मी पर्वत और शिखरी पर्वत।

भरत, ऐरावत तथा देवकुरु-उत्तरकुरु को छोड़ शेष विदेह के क्षेत्र कर्मभूमि हैं। उद्यम, वाणिज्यादि द्वारा यहाँ के निवासी जीविकोपार्जन करते हैं। यहीं के निवासी मनुष्य मोक्षार्थ साधना करते हैं और इन्हीं क्षेत्रों में तीर्थंकरोद्भव होता है। हेमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रों में युगलिक मनुष्य रहते हैं। हेमवत व हैरण्यवत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे जैसी रचना मिलती है, हरि व रम्यक में दूसरे आरे जैसी और देवकुरु व उत्तरकुरु में प्रथम आरे जैसी स्थिति मिलती है।

भरतक्षेत्र के मध्य में पूर्व-पश्चिम में फैला वैताढ्य पर्वत है। हिमवान से उद्गमित गंगा और सिन्धु नदियाँ क्रमशः पूर्व और पश्चिम में प्रवाहित होती हैं। इन नदियों और वैताढ्य पर्वत द्वारा यह भूभाग ६ खण्डों में विभाजित है जिन पर शासन

करने वाला चक्रवर्ती कहलाता है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवणसमुद्र है जिसको घेरे हुए धातकीखण्ड नामक विशाल द्वीप है। इसे घेरे हुए कालोदधि समुद्र है जो चारो ओर से पुष्करद्वीप से घिरा है। इस क्रम मे विशाल से विशालतर आकार के द्वीप से समुद्र और समुद्र से द्वीप के घिरे होने की स्थिति है। पुष्करद्वीप के आधे भाग तक मनुष्यावास है, इसके आगे केवल तिर्यच जीव मिलते है। मध्यलोक में मनुष्य एव तिर्यच जीवों की जघन्य रूप मे अन्तर्मुहूर्त जितनी और उत्कृष्ट रूप मे ३ पल्योपम तक की आयु रहती है।

ऊर्ध्वलोक

इस उच्च लोक मे देवावास रहता है। विभिन्न देवो के विमानो से सरचित इस ऊर्ध्वलोक के शीर्षस्थ स्थल पर अवस्थित सिद्धशिला जो लोकान्त पर है, लोक के चरम स्थल पर है। देवो के चार भेद होते है—

(१) भवनपति, (२) बाणव्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक। इन वैमानिक देवो के विमान ही ऊर्ध्व लोक में होते हैं। विमानो मे कही इहलोक की भाँति राजा-प्रजा जैसी व्यवस्था रहती है, एक स्वामी और शेष सेवक होते है— वह कल्प कहलाता है। कल्प विमान मे उत्पन्न वैमानिक देव कल्पोपपन्न कहलाते है। जहाँ राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक जैसी व्यवस्था नही होती वहाँ उत्पन्न देव कल्पातीत कहलाते हैं। कल्पातीत देव ही अहमिन्द्र देव भी कहलाते है। कल्पोपपन्न देव जातियाँ १२ है—

(१) सुधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र,
(५) ब्रह्म, (६) लान्तक (७) शुक्र, (८) सहस्रार
(९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत

कल्पातीत देवताओ की प्रकार संख्या १४ है। इनमें से ९ ग्रैवेयक वर्ग के एव ५ अनुत्तर वर्ग के हैं।

ग्रैवेयक वर्गीय कल्पातीत देव—

(१) भद्र (२) सुभद्र (३) सुजात (४) सौमनस
(५) प्रियदर्शन (६) सुदर्शन (७) अमोघ (८) सुप्रबुद्ध (९) यशोधर

अनुत्तर कल्पातीत देव—

(१०) विजय (११) वैजयन्त (१२) जयन्त
(१३) अपराजित (१४) सर्वार्थसिद्ध

कुल मिलाकर २६ देवलोक है जिनमे विमानो की संख्या ८४ लाख, ९७ जार, २३ मानी गयी है। कल्पोपपन्न देवो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पार्षद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्विषिक—१० प्रकार के पदों या श्रेणियों की कल्पना रहती है इसी कल्पना के कारण यह वर्ग ही कल्पो

पपन्न कहलाता है। सभी देवताओं के स्वामी, राजा इन्द्र है। सामानिक के पास इन्द्रत्व नही होता, शेष सब पकार से वह इन्द्र के समकक्ष ही होता है। त्रायस्त्रिंश— ये ३३ देवता गुरुवत् पूज्य, देवताओ के राजपुरोहित होते है। इन्द्र सभा के सदस्य पार्षद कहलाते है। इन्द्र के अगरक्षक आत्मरक्षक और सीमारक्षक लोकपाल कहलाते हैं। देव-सेना के सैनिक, नायक आदि अनीक और सामान्य प्रजावत् देवता प्रकीर्णक कोटि में आते है। दास-दासी वर्ग मे आभियोगिक होते है और किल्विषिक अत्यज के समान होते है। ये सभी देवलोको में निवास करते है।

देवलोको के ऊपर विमान है जो तीन पाथड़ो मे है और प्रत्येक मे ३-३ विमान है। इनमे ग्रैवेयक देवों का निवास है। इनके ऊपर अनुत्तर देवताओ के विमान होते हैं। ये देवता सम्यक्दृष्टि और सर्वोत्तम होते है। ये सभी भद्र परिणामी और मोक्षगामी होते है। अनुत्तर विमानो से ऊपर बारह योजन के अन्तर पर सिद्धशिला है। यही पर लोक की सीमा समाप्त हो जाती है।

लोक में सुख-दुःखावस्था

लोक के चरमोच्च भाग सिद्धशिला पर सुख ही सुख है, दु ख लेश मात्र भी नही होता। इसके विपरीत नरक के निम्नतम तल मे केवल दु ख है, भीषण और उत्कट दुःख है। इस लोक में नीचे से ज्यो-ज्यों ऊपर की ओर बढते है, सुख बढते और दुःख घटते रहते है। यदि ऊपर से नीचे उतरे तो पायेगे कि सुख उत्तरोत्तर कम होते जाते है और दुखो मे क्रमश वृद्धि होती जाती है अधोलोक मे नारक जीव, मध्य लोक में मनुष्य और ऊर्ध्व लोक मे देवताओ का निवास होता है। लोक के सर्वोच्च भाग मे सिद्ध भगवान विराजते है। सातवें नरक मे सर्वाधिक दु.ख और सर्वार्थसिद्ध विमान में सर्वाधिक भौतिक सुख है और आयुष्य भी इन दोनो स्थलो पर ३३ सागरोपम है। नारक भी इतने लम्बे समय तक दु ख भोगते है और सर्वार्थसिद्ध के देव भी इतने ही लम्बे समय तक सुखोपभोग करते है। मध्यलोक मे मनुष्य स्वयं कर्मो का कर्ता है। पूर्वकृत कर्मानुसार सुख-दु:खो का भोग करता है और अब के कर्मानुरूप ही उसका भावी सुख-दुःख विधान होगा। यहाँ दुख भी हैं पर अनन्त और केवल दु.ख ही दु ख (नरक के समान) नहीं होते, घोरता मे भी वे नरकवत् नही होते, कुछ कम होते हैं। यहाँ सुख भी हैं पर स्वर्गवत् अधिक और अतिशय नही होते। न केवल सुख और न केवल दुःख बना रहता है। सुख-दु:ख की छाँह-धूप आती-जाती रहती है। शुभकर्मों का प्रभाव होने लगे तो सुख छा जाता है और अशुभ कर्मो के फलित होने लगने पर दु ख घिर आता है। ऊर्ध्व और अधोलोक की स्थिति की सापेक्षता मे देखा जाय तो मध्यलोक की औसत या मध्यम स्थिति है। वह कर्मानुसार मध्यलोक से पतित होकर नरक का जीव भी हो सकता है और उन्नत होकर देवत्व भी प्राप्त कर सकता है। यह स्वेच्छानुसार गति मनुष्य का सामर्थ्य ही है। नारक और स्वर्गिक जीवों मे यह क्षमता नही होती।

लोक की नित्यता

यह लोक अनादि है, अनन्त है। न कोई इसका स्रष्टा है, न ही कोई विनाशक—इसका त्राता भी कोई नही है। भावना शतक मे लोक सम्बन्धी यह नित्यता इस प्रकार वर्णित की गयी है—

नाय लोको निर्मितः केनचिन्नो, कोऽप्यस्यास्ति त्रायको नाशको वा।
नित्योऽनादिः सभृतोजीवाजीवैर्वृद्धि ह्रासो पर्ययानाश्रयन्ते॥

इस जगत का न कोई निर्माता और न ही रक्षक या सहायक है। यह अनादि है और अक्षय है। षड्द्रव्यों के संयोग से यह अस्तित्व में है और षड्द्रव्य स्वय नित्य है। अस्तु, लोक की नित्यता भी सदा असदिग्ध है। भगवती सूत्र मे कथन है कि भूत काल का कोई कालखण्ड ऐसा नही है जब लोक न रहा हो, भविष्य का भी कोई समय ऐसा नही होगा जब लोक न रहे और वर्तमान मे तो यह प्रत्यक्षत द्रष्टव्य है ही। द्रव्यों की उत्पत्ति-विनाशाधारित परिवर्तन का विषय होते हुए भी लोक नित्यता की कसौटी पर कभी दुर्बल नही सिद्ध होगा। यह रचित या सगठित नही है। अत. इसके निर्माता का प्रश्न भी विचारातीत ही कहा जायगा। जैन दर्शन अन्य दर्शन-सम्मत इस धारणा से सहमत नही है कि ईश्वर लोकस्रष्टा है। सृष्टिकर्ता ईश्वर जैसी किसी सत्ता के लिए जैनमत मे कोई स्थान ही नही। यहाँ तो मानव ही शिरोमणि जीव है जो अपने आत्मिक विकास से स्वय पराकाष्ठा पर पहुँचने का सामर्थ्य रखता है। ईश्वर यदि हो तो वह मनुष्य से श्रेष्ठ और जगत का नियन्ता होता होगा—इस धारणा के लिए जैन-अध्यात्म मे कोई अनुकूल भूमि नही।

अणंते नितिए लोए सासए न विणस्सइ

लोक शाश्वत है, नित्य है, जीव-अजीव से भरा है। न कोई उसका निर्माता है और न कोई सहारक। सूत्रकृतागसूत्र मे इस प्रकार लोक-नित्यता का प्रतिपादन किया गया है। केवली भगवान ने लोक के जिस यथार्थ स्वरूप का दर्शन आध्यात्मिक योग-दृष्टि से किया वह किसी भी सन्देह से परे है, उसी का विवेचन-व्याख्या जैन शास्त्रो का विषय रहा है। खगोल-भूगोल की नव नवीन शोध-खोजानुसार जो नवीन तथ्य आते जा रहे है भगवान द्वारा बताये गये लोक-स्वरूप की व्याख्या के लिए वे नयी दिशा देते है और भगवान का कथन अधिकाधिक यथार्थता प्राप्त करता चला जा रहा है। यदि कही कोई अभाव रह भी गया है तो वह व्याख्या का ही है, स्वयं कथन का नही। कथन तो सर्वांगपूर्ण है, सर्वथा सत्य और प्रत्यक्ष है। □

बोधि-दुर्लभ भावना

लख चौरासी योनि भ्रमण में दुर्लभ मानव भव पाना ।
ज्ञानयुक्त हो धर्माचरण से दुर्लभ लोक-पार जाना ॥

धर्म ही आत्मा को सद्गति सुलभ कराने म समर्थ हे। अत: 'धम्म चर सुदुच्चरं' ऐसे धर्म का आचरण करणीय हे। यह आचरणीयता केवल मनुष्य की विशेषता हे। आत्मा तो नाना प्रकार की योनियों मे देह धारण करती है, किन्तु किसी अन्य योनि मे यह सुविधा नही रहती। तभी तो मानव जीवन को सद्भाग्य से प्राप्त एक अत्यन्त मूल्यवान अवसर कहा जाता है। दुर्लभता जब सुलभ हो ही जाय तो उसका समग्र शक्ति के साथ सदुपयोग करने में ही विवेकशीलता है। धर्माचरण द्वारा आत्मकल्याणार्थ प्रयत्नो मे ही यह सदुपयोग निहित रहता है। मानवदेह धारण करने का दुर्लभ अवसर पाकर भी धर्म की महत्ता को हृदयंगम कर जो धर्माचरण नहीं करता, वह इस कल्याणकारी संयोग को व्यर्थ हो जाने देता है। प्रथमत. तो मानव योनि बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है, फिर जीवन तो क्षण-भगुर है, ससरणशील जीव कब यह योनि त्यागकर अन्य योनि ग्रहण कर लेगा—इस सम्बन्ध मे भी कुछ निश्चय नही। अस्तु, अप्रमादभाव से, बिना समय को व्यर्थ खोये जो धर्माचरण मे सन्नद्ध हो जाता हे—वही जीवन का सदुपयोग करता है। बोधिदुर्लभ भावना में मानव जीवन की इस दुर्लभ बहुमूल्यता का ही चिन्तन है।

उत्तराध्ययन मे कहा गया है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिण ।
गाढाय विवाग कम्मुणो, समय गोयम ! मा पमायए ॥

विश्व के सब प्राणियो के लिए चिरकाल तक भटकने के पश्चात् भी मानव-भव की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ रहती है। सघन कर्मविपाक के कारण आत्मा को एक-एक योनि में ही असंख्य बार और अनन्तकाल तक जन्म लेते रहना पड़ता है और ऐसी योनियाँ भी असंख्यात है, मानवयोनि भी उन्हीं में मे एक है। जाने कब वह सयोग आए कि उसे इस भव में जन्म लेने का अवसर मिले—कुछ कहा नही जा सकता यही दुर्लभता चिन्तनीय है

मानवयोनि की दुर्लभता का आभास उसकी यथार्थ स्थिति मे किया जा सके यह भी दुर्लभ ही है। अपरिमित है यह लोक और इस लोक मे जीवो के लिए जो जन्म लेने की योनियाँ हैं वे भी असख्यात है, जीव एक-एक योनि में अपरिमित काल जन्म-मरण के क्रम में व्यतीत करता है। इस सबका सही अनुमान कर स्थिति को समझना और उसका प्रभाव ग्रहण करना सामान्यतः कठिन ही हो जाता है। जीव जो पृथ्वीकाय वर्ग मे जन्मा तो वही वर्ग उसके जन्म-मरण का क्रम असख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल तक बनाये रखता है। वहाँ से निकला तो अप्काय मे, फिर तेजस्काय, वायुकाय मे ऐसे ही अपरिमित कालयापन करता रहता है। अगणित जन्म-मरण करता है। फिर जो वह वनस्पतिकाय वर्ग मे आ गया तो फिर एक लम्बा पडाव लग गया। इसमे निगोद जैसी योनियो मे एक-एक शरीर मे असंख्यात जीव कुलबुलाते रहते है। निगोद मे ही जीव अनन्तकाल तक भ्रमण करता रहता है। सूच्यग्रभाग मे असख्य अल्पकाय जीव समा सकते हो, और ऐसे सूक्ष्मशरीर मे भी एक नही, असख्य जीवो का आवास हो तो जीव की वेदना-यातना अनुभव के परे की ही होगी। एक ऐसे शरीर का मरण उन असंख्य जीवो का मरण बन जाता है। जन्म-मरण की इस अंधेरी घाटी मे मानव जीवन की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है। यह आशा के आलोक के समान है जो धर्म का मार्ग बताकर मोक्ष के मार्ग तक पहुँचा सकता है। इस प्रकाश का भी जो स्वागत न करे और नेत्र मूँदे रहे—वह हतभाग्य तो फिर उस अधेरी घाटी में ठोकरें खाते रहने की नियति का ही धनी रह जाता है और मानवभव उसके लिए पुन दुर्लभ हो जाता है—मोक्ष प्राप्ति का अवसर खो जाता है।

तनिक गांभीर्य सहित चिन्तन का विषय है कि, स्थावरयोनि मे इस प्रकार असख्य जन्म-मरण कर जब जीव त्रस वर्ग में आता है तो वहाँ भी क्रमश. २, ३, ४ इन्द्रियो वाले जीव की योनियो मे वेदनायुक्त जन्म-मरण अनन्त बार करता रहता है। पंचेन्द्रिय जाति मे जन्म लेकर तिर्यंच एवं नरकयोनियों मे अनेक कष्ट भोगता है। इन विभिन्न दु खों भरे भवो में कही भी धर्माचरण का सुयोग नही होता। केवल मानव-जीवन मे ही वह सम्भव है अत उसका मोल बहुत अधिक हो जाता है और उसकी दुर्लभता भी स्वतः ही तीव्रतर हो जाती है।

उत्तराध्ययनसूत्र मे जीवों के लिए मानवयोनि सहित चार दुर्लभताओं का सकेत किया गया है। इन्हे धर्म के चार अग कहा गया है—मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रुति, श्रद्धा और संयम—

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमंमि य वीरियं।।

स्थानाग मे इनको तनिक व्यापक रूप देते हुए ६ अंग वर्णित किये गये हैं—

(१) मनुष्य भव (२) आर्य क्षेत्र (३) उत्तम कुलोद्भव (२) **केवलि प्ररूपित धर्म श्रवण (५) धर्म पर श्रद्धा (६) श्रद्धानुरूप आचरण।**

जीव चाहे देवयोनि में जाकर स्वर्गिक सुखोपभोग ही क्यों न कर ले, किन्तु उसे उस योनि मे मोक्ष-प्राप्ति तो नही हो सकती, क्योंकि धर्माचरण ही मोक्ष का मूल है और वह देवयोनि मे व्यावहारिक नही हो पाता। मोक्ष की भूमिका के लिए तो मनुष्य जीवन ही अपेक्षित है। तभी तो देवताओ को भी कामना रहती है कि हम यह आयुष्य पूर्णकर मानवयोनि मे जाएँ, आर्यक्षेत्र मे जन्म ले, उत्तम कुल प्राप्त कर धर्म श्रवण करें, धर्म मे श्रद्धा रखे, और श्रद्धानुरूप ही धर्माचरण करे, मोक्ष प्राप्त करें। देवयोनि से भी मानव जीवन इस दृष्टि से उत्तम निर्णीत होता है।

आचार्य सोमप्रभसूरि के अनुसार—जो इस दुष्प्राप्य मनुष्य जीवन को प्राप्त करके भी मात्र भोग-विलास मे ही खो देता है वह मूर्ख तो स्वर्ण थाल में धूल भरता है, पंक सने चरणों के प्रक्षालन हेतु अप्राप्य अमृत को व्यर्थ बहा देता है, कौआ उडाने के लिए कंकड के स्थान पर चिन्तामणियों को फेंक रहा है। ऐरावत की पीठ पर ईंधन ढोने जैसी मूर्खता अमूल्य मानव जीवन के भोग-विलास मे बिताने के घोर दुरुपयोग में रहती है।

मनुष्य जीवन के सदुपयोग का प्रथम चरण धर्म-श्रवण है। मानवयोनि मिले, साथ ही शारीरिक अगोपांग भी यथोचित रूप में स्वस्थ और सक्रिय हो, धर्म सस्कार एव वातावरण युक्त उत्तम कुल हो। तभी धर्म श्रवण एवं आचरण की अनुकूल परिस्थितियाँ बनती है। सन्त-मुख से धर्म श्रवण कर पाना मनुष्य के त्रिकाल के पुण्यो का सूचक है। पूर्व पुण्यो से यह अवसर मिलता है, वर्तमान मे धर्मश्रवण प्रत्यक्ष पुण्य है ही और श्रवण उसे भविष्य मे पुण्य कर्मो की प्रेरणा भी देता रहेगा।

अनेक स्वारोपित एवं बाह्य बाधाओ के कारण धर्मश्रवण भी दुर्लभ हो जाता है। ये बाधाएँ हैं—आलस्य, अहकार, कृपणता, अज्ञान, मनोविनोद की रुचि, मोह, अवज्ञा, क्रोध, प्रमाद, भय, शोक, व्याकुलता, कुतूहल आदि। फिर धर्मोपदेशक सच्चे गुरु भी दुर्लभ ही हैं। शिष्यो, श्रद्धालुओ के वित्त हरण करने वाले तथाकथित गुरु तो अनेक मिल जाते है, पर चित्तहरण करने वाले सच्चे गुरु सयोग से ही मिलते हैं। यदि ऐसे सच्चे उपदेशक और उनके धर्मोपदेश सुलभ हो भी जायँ तो मन का चांचल्य उसकी धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होने देता। यह भी एक बाधा है। श्रोता को ध्यानपूर्वक उपदेश पर मनन करना चाहिये, उसमें चित्त को रमाना चाहिये।

"श्रुत्वा श्रद्धातीति श्रावका. (धर्मोपदेश)

सुनकर जो उन पर श्रद्धा करे वही श्रावक है। यह श्रद्धा, यह विश्वास या सम्यग्दर्शन ही—'बोधि' है। यह बोधि भी सब किसी के भाग्य मे कहाँ होती है? यह भी दुर्लभ है।

सूत्रकृताग मे भी कहा गया है कि—हे मनुष्यो! तुम धर्म तत्व को समझो, तुम समझ क्यों नही रहे हो? आगे सद्बोधि का मिलना बडा ही कठिन है। ये बीती हुई राते लौटकर नही आएँगी गया हुआ मनुष्य जीवन दुबारा मिलना दुर्लभ

है। यदि मानव-जीवन पाकर, उसमें धर्मश्रवण करके भी धर्म पर श्रद्धा नहीं की, अथवा श्रद्धा आरम्भ करके भी उससे डिग गये तो तुम्हें श्रद्धा करने का यह अवसर बार-बार प्राप्त न होगा। **'पुणो सबोहि दुल्लहा'**—फिर सबोधि मिलना दुर्लभ है। ससार-भ्रमण हेतुभूत मिथ्यात्व ही है। सम्यक्त्वरूपी बोधि प्राप्त होने पर मिथ्यात्व दूर हो जाता है और क्रमशः मोक्ष लाभ की भूमिका बन जाती है। अत आवश्यकता इस बात की है कि सम्यक्त्व-दोषो, बोधिनाशक तत्वो से सतर्कतापूर्वक आत्मरक्षा करते हुए सम्यक्दर्शन और सद्‌बोधि से लाभान्वित होने की दिशा मे सक्रिय रहा जाय। □

योग भावनाएँ

सद्धर्मध्यान - संध्यान-हेतवः श्री जिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावना पराः ॥

धर्म-ध्यान में चित्त रमे—उपचार जिनेश्वर बतलाएँ ।
मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव को अपनाएँ ॥

सब जीवों के संग मित्रता, गुणीजनों पर रहे प्रमोद ।
दुखियों पर कारुण्य, उपेक्षा उन पर जो भी करे विरोध ॥

पूर्व वर्णित वैराग्य (द्वादश) भावनाएं मन के विकारों का शमन कर शरीर और पौद्गलिक अन्य पदार्थों तथा विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव सुदृढ करती हैं। संस्कार ही विरक्तियुक्त होने लगते हैं। धर्म-ध्यान का समारंभ होने लगता है। तभी समस्या यह आती है कि चित्त मे स्फुरित यह धर्म-ध्यान चित्त मे ही स्थिर कैसे रहे ? मन की चंचलता उसे छिटका देती है, कैसे उसे मन से बांधा जाय ? योग सम्बन्धी ये चार भावनाएं—मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ, इस समस्या की समर्थ समाधान हैं। वैराग्य भावनाओं के लिए ये योग भावनाएँ पूरकवत् हैं। आचार्य उमास्वाति द्वारा द्वादश अनुप्रेक्षाओं के साथ इन चार योग भावनाओं का स्वतन्त्र विवेचन किया गया है। किन्तु कतिपय अन्य स्थलों पर द्वादश भावनाओं के स्थान पर १६ भावनाओं का विवेचन भी मिलता है, जहाँ वैराग्य और योग भावनाओं का एक ही समुच्चय गठित कर दिया गया है।

योग भावनायें धर्म को आत्मा के साथ जोड़ती हैं, सम्बन्ध को दृढतर करती है—इस कारण भी ये 'योग भावना' कहलाती हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इनका 'ध्यान' के प्रकरण में वर्णन किया है और टूटे हुए ध्यान को पुनः निरन्तरित करने की उपादेयता के साथ इन भावनाओं की महत्ता को स्वीकारा है। उन्होंने इन भावनाओं को की भाँति बताया है जो विशृंखलित होते हुए ध्यान को परिपुष्ट करता है योग भावना के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य अमितगति का कथन है

सत्वेषु मैत्री, गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव !

समस्त सत्व जीवो पर मेरी मैत्री हो, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, उनके गुणों के प्रति आदर और अनुराग का भाव हो, दुखियो के प्रति करुणा की भावना हो और जो मेरे विरोधी है उनके प्रति मेरे मन में उपेक्षा का भाव रहे, अर्थात् प्रतिकूल प्रसंगों मे भी मै तटस्थ भाव का निर्वाह करूँ । मेरी आत्मा सदा इस आशय का चिन्तन करे ।

धर्मभाव को सुस्थिर और पुष्ट करने वाली इन योग भावनाओ का आध्यात्मिक महत्व तो है ही इनके चिन्तन से मनुष्य मे सच्ची मनुष्यता का भी समुचित विकास होता है और उसकी सामाजिकता मे ऐसी उत्कृष्टता आती है कि वह शान्ति और शिष्टता का आधार बन जाता है । यदि ये भावनायें सब मे दृढ हो जाये तो ईर्ष्या, द्वेष और कलह के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहे । राग-द्वेष, अभिमान और स्वार्थ ही जगत के लिए समस्यामूलक है । ये भावनाए इन्हे निर्मूल कर धरती को स्वर्गोपम बना सकती है । आवश्यकता इन्हे निष्ठापूर्वक अपनाने की ही है । □

मैत्री भावना

पाप-दुःख से सभी जीव हों मुक्त, सुखी हों उन्नत हो।
सब का हो कल्याण, स्व-पर हित में रत हों ॥

मैत्री भावना का व्यापक भावार्थ है—पर-हितैषिता। मैत्री मे एक ऐसा माधुर्य पूर्ण आकर्षण है जो समीपता और हार्दिक घनिष्ठता स्थापित करता है। मनुष्य का मन परार्थ के प्रयोजन से मंगल भावना का सदन होकर विमलता की आभा से जगमगा जाता है, वचन विनीत हो जाते हैं और काया सेवाप्रवृत्त हो जाती है। मनुष्य को मनुष्य बनाने का यह एक अमोघ साधन है।

इस मैत्री भावना का क्षेत्र हमारे स्वजन-परिजन अथवा परिचित-सम्पर्कियों तक सीमित नही है। अति उदार होकर यह भावना तो लोक के समस्त जीवो के प्रति समर्पित जन की व्यापक उदात्तता बन गयी है।

मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।

सभी के प्रति मेरे मन मे मैत्री भाव है, किसी के साथ मेरी शत्रुता नही। यहाँ 'सभी'—की व्याख्या में ही इस मैत्री भावना की गरिमा निहित है। चिन्तक जब सभी के विषय मे ऐसा सोचता है तो इस वृत्त में उसके स्वजन-परिजन ही नही सम्पूर्ण मानव जाति आ जाती है। वे सभी आ जाते हैं जो चाहे परिचित-अपरिचित हो, स्वदेश के अथवा परदेश के हो, यही नही नारक और देवयोनि के समस्त जीव भी 'सभी' मे सम्मिलित हो जाते हैं, ये ही नही समग्र जीव-समुदाय आ जाता है चाहे वे जीव त्रस हो अथवा स्थावर। प्राणी मात्र की हितैषिता को समर्पित यह भावना इस प्रकार अतिव्यापक है और यह धारक की आत्मा को भी इसी प्रकार महान, विशाल और व्यापक रूप प्रदान कर देती है। यह आवश्यक सूत्र है, जिसका पाठ और चिन्तन जैन श्रमण-श्रमणी प्रतिदिन प्रातः सायं अनिवार्यत करते हैं। उनकी चिन्तन-धारा इस दिशा मे अग्रसर होती है कि मैं सर्वप्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझता हूँ। प्रमाद से, भूल से अथवा अज्ञात रूप में भी मुझ से किसी प्राणी के प्रति कोई अपराध हो गया हो, कोई अहित अथवा हानि हो गयी हो तो मैं उन सभी जीवो को

खमाता हूँ अपनी भूल, दोष के लिए क्षमायाचना करता हूँ। वे मुझे क्षमा प्रदान करे—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।

मैत्री भावना का मूल ही यह है कि दूसरो की हितचिन्ता, मगल कामना की जाय—

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्।

'भगवती आराधना मूल' मे मैत्री भावना के लिए जो समुचित आधार और तर्क रहा करता है—उसके चिन्तन की भी प्रेरणा दी गयी है। मैत्री भावना मे चिन्तन किया जाता है कि—मेरे साथ-साथ सभी जीव संसार मे परिभ्रमण करते रहे है। सभी के साथ मेरे जाने-अनजाने अनेक सम्बन्ध रहे है और मेरे साथ उनके अनेक उपकार भी रहे है। अत: वे सब मेरे कुटुम्बीजन है, उपकारी है। आभारयुक्त विनय के साथ यह भावना जब चिन्त्य हो उठती है तो व्यवहारगत अपेक्षित परिवर्तन मनुष्य मे सुगमता मे आने लगते है। इस हितचिन्ता की यह पराकाष्ठा है कि मनुष्य यह सोचने के लिए प्रेरित हो जाय कि मेरे कारण ही नही और भी किसी कारण मे किसी जीव के लिए दु:खोत्पत्ति न हो, यह कामना मैत्री का सच्चा स्वरूप है। उसकी यह कामना प्रबल हो कि—

जीवन्तु जन्तव: सर्वेक्लेशव्यसनवर्जिता।
प्राप्नुवंति सुख, त्यक्त्वा वैर पाप पराभवम्॥

संसार के समस्त जीव क्लेश, कष्ट और विपत्तियो से दूर रहकर सुखपूर्वक रहे, परस्पर वैर न रखे, पाप न करें, कोई किसी को पराभव न दे। मैत्री का यह लक्षण आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव मे प्रस्तुत किया है। लगभग इसी स्वर को आचार्य हेमचन्द्र द्वारा दिये गये लक्षणो मे भी ध्वनित पाया जाता है—जगत का कोई प्राणी पाप न करे, कोई प्राणी दु:ख-भाजन न बने। सभी प्राणी दु:खमुक्त हो जायें—यह मैत्री भावना है।[1] मैत्री भावना के विषय मे सार रूप मे कहा जा सकता है—

(१) लोक के सभी देव, नारक, तिर्यंच और स्थावर, मनुष्य योनि के समस्त जीवो के लिए हितचिन्ता करना।

(२) उनके जीवन के उत्थान की कामना करना।

(३) संसार भ्रमण मे सभी जीवों द्वारा किये गये उपकारों का आभार मानना और उनकी मंगल कामना करना।

(४) सभी जीव दु:ख और पापों से मुक्त होकर सुखी हो—ऐसी कामना करना। यही मैत्री भावना का स्वरूप है।

शास्त्रीय दृष्टि से भी आत्मा-आत्मा सभी एक-रूप हैं, समान है। समान ही

---

१ योगशास्त्र ४।११८

लक्ष्य और समान ही साधना पथ है। ऐसे समानों में मैत्री भाव का होना भी सहज है, स्वाभाविक है। कहा भी जाता है—**समान शीलव्यसनेषु सख्यम्।**

हमारे आचरण में मैत्री भावना के साकार होने पर सारा जगत हमें अपना लगेगा—हमारा विरोधी भी हमें शत्रु प्रतीत नहीं होगा। हम सभी के कल्याण और सुखार्थ शुभकामी होंगे, किसी का अहित करना तो दूर रहा, अहित का विचार भी हमारे मन में न आयेगा, तो इसका प्रभाव हमारे कट्टर विरोधियों पर भी अनुकूल ही होगा। उनमें भी वैरभाव की तीव्रता क्रमशः शिथिल हो जायेगी और अन्ततः वे हमारे मित्र हो जायेंगे। कोई हमारा शत्रु नहीं होगा। हमारा मित्र समाज समस्त लोक पर्यन्त व्याप्त हो जायेगा। हम सबके और सब हमारे हो जायेंगे। जीव मात्र के साथ ममत्व के व्यवहार से हमारी आत्मा अद्भुत आभा से जगर-मगर हो उठेगी। □

प्रमोद भावना

गुण आदर कर हर्षित हों, अनुराग गुणीजन से हो।
श्रद्धा, धर्मप्रियता बढती, प्रमोद भाव जो मन से हो ॥

सद्‌गुणो की आराधना प्रमोद भावना का मूल मन्त्र है। गुणीजनो के गुणो पर विचार करना, उनके गुणवान होने पर प्रसन्न होना—प्रमोद भावना है। यह वास्तव मे गुणों का आदर और गुणो के प्रति अनुराग की हर्षप्रद अनुभूति है—**भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः**—प्रमोद भावना मे गुणो की प्रतिष्ठा एक अनिवार्य तत्व है। यही जीवन के आनन्द का और मानसिक अशान्ति से बचने का मार्ग है। श्रेष्ठ और उन्नतिशील व्यक्ति के प्रति, उसके गुणो के प्रति प्रसन्नता का भाव आना इस बात का भी प्रतीक है कि हम गुण-ग्राहक है, गुणों के प्रति श्रद्धालु हैं। गुणो के प्रति श्रद्धा का यह भाव हमें गुणवान होने की प्रेरणा भी अवश्य देगा और हममे भी गुणी होने की सम्भावना का उदय होगा। गुणीजन का जो सम्मान हम करते है, उनके प्रति अनुराग व्यक्त करते है—वह वास्तव मे उसके गुणों का सम्मान ही है। गुण तो मात्र भाववाचक होते है अतः उनका सम्मान मानसिक प्रवृत्ति मात्र रह जाता है। यही प्रवृत्ति दृश्यमान रूप में व्यक्त होती है गुणीजन के प्रति आदर-अनुराग के रूप मे। वह अपने गुणो के ही कारण आदर पाता है। गुणों को देखकर प्रसन्न होने वाला व्यक्ति स्वय ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति का हो जाता है—इसमे रचमात्र भी सन्देह नही किया जाना चाहिये। यह वह अभ्यास क्रम है जो अन्ततः उसे सर्वगुण-समुच्चय—धर्म के प्रति श्रद्धालु बना देता है वह नैष्ठिक धर्मानुरागी हो जाता है।

यदि सद्‌गुणो को देखकर किसी के मन मे सम्बन्धित गुणवान के प्रति ईर्ष्या का उदय होता है तो स्पष्ट है कि वह गुणवान का ही नही स्वय गुणो का भी आदर नही करता। श्रेष्ठताओ का वह अवमूल्यन करता है, अच्छाइयो के प्रति उसके मन मे अनुराग और आदर-भाव नही है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्रकार से धर्मप्रिय नही हो सकेगा, उसके आत्मोत्थान की सभी संभावनाए नष्ट हो जायेगी। क्रोधादि के वशीभूत उसके मन में धर्म जैसी उदात्तता का प्रवेश ही अशक्य रहेगा। निश्चित है कि वह पतनाभिमुख हो आत्म-हानि ही करेगा

यह भी सत्य है कि कोई वस्तु या व्यक्ति मात्र गुणगार ही हो, अभाव या दोष उसमे हों ही नहीं—ऐसा नही होता । हमे उसके दोषो–अवगुणो की उपेक्षा कर गुणो से प्रेरणा लेनी चाहिये । ये गुण ही उसे अनुराग–आदर का पात्र बनाने के लिए क्या कम है ?

वासुदेव श्रीकृष्ण रथारूढ होकर जा रहे थे तो मार्ग के समीप उन्होने आसन्न मृत्यु, दुर्बल, खजैला कुत्ता देखा । सभी उसकी दुर्गन्ध से नाक भौह सिकोड़ते हुए पथ मे निकल जाते थे । वासुदेव के मुख पर एक मुस्कान आ गयी । प्रसन्नता-पूर्वक उन्होने कहा—इसके दाँत कितने स्वच्छ और कान्तिमान है । उनका ध्यान अवगुणो से हटकर मात्र गुणो की ओर ही गया । विवेकीजन का स्वभाव भी सूप के समान ही होना चाहिये ।

सार-सार को गहि लये, थोथा देय उड़ाय ।

यह सत्य है कि अभावग्रस्तों मे भी कोई विशेषता अवश्य होती है । नेत्रहीन गायको का सगीत क्षेत्र मे कितना यश व्याप्त है । संखिया—घातक विष है, किन्तु विधिवत् उपयोग मे वही वेदनानाशक औषधि भी बन जाती है । सूर्य अपने प्रचण्ड ताप से जगत को चाहे उत्पीड़ित करता हो, पर वही प्रकाश भी देता है, वर्षा में सहयोगी भी बनता है, धान्योत्पादन मे अनिवार्य भूमिका भी निभाता है । अग्नि भोजन पकाने मे सहायक होती है, शीत दूर करती है, तो वही जलाकर भस्म भी तो कर देती है । केवड़े पर फल नही आता पर उसका फूल ही कितनी मधुर गन्ध लुटाता है, नागबेलि पर फल और फूल दोनों ही नही आते पर उसके पल्लव कितने उपयोगी होते है । हम इन वस्तुओ के गुणो से लाभान्वित होना नही छोड़ते—यह देखकर कि इनमें तो अमुक-अमुक अवगुण है—अभाव है ।

अवगुणो की उपेक्षा कर हमे तो गुणो से प्रभाव ग्रहण करना चाहिये । इसके विपरीत जो पर-छिद्रान्वेषण में ही रुचि रखते है, गुणो की उपेक्षा करते रहते हैं, वे कभी भी (मृत्युपर्यन्त भी) सवरधर्म की आराधना नही कर पाते—

एव तु अगुणप्पेही गुणाण च विवज्जओ ।
तारिसो मरणते वि नाराहेइ सवरं ॥

जो अपने प्रसन्नतापूर्ण जीवन की साध रखते है, उन्हे गुणो का पारखी भी बनना होगा । अनेक अवगुणो मे छिपे एक-एक गुण को भी परखकर उसका आदर करना होगा । उसे अपनाना होगा—यही गुणार्जन की प्रवृत्ति है । गुणदृष्टि से युक्त जन सदा ही गुणीजनो का प्रसन्नतापूर्वक तत्परता के साथ, स्वेच्छा से आदर करते हैं, उनसे प्रीति रखते है । गुण अथवा गुणवान का आदर करने—अनुराग रखने के क्रम में वे आगा-पीछा नहीं करते । वह गुणीजन कैसा है ? किस वश-जाति का है । स्त्री-पुरुष, बाल या वृद्ध है । उससे कोई अन्तर नही आता वह तो गुणाढ्य के प्रति श्रद्धा रखता है—वह फिर भले ही किसी वर्ग का क्यो न हो

गुणज्ञता और गुणग्राह्यता भी उसी मे अधिक और उच्चकोटि की होगी जो स्वयं गुणवान होगा। गुणार्जन की प्रवृत्ति ही अपने आप मे एक गुण है। यह तो हंस के नीर-क्षीर विवेक की भांति है। हंस जैसे दूध-दूध ग्रहण कर जल को छोड देता है, गुणज्ञ भी अन्यजनो की गुणावली ग्रहण कर लेता है, अवगुणों की उपेक्षा करता है। इस समय न तो वह यह ध्यान रखता है कि वह गुणी कैसा-क्या है? और न इस बात को महत्व देता है कि उसमे यह एक गुण होने से क्या? शेष सारे तो दुर्दान्त अवगुण भरे पड़े हैं। हमारे विरोधी मे भी यदि कोई गुण है तो वह ग्राह्य है। व्यक्ति एक-एक गुण के सग्रह द्वारा स्वय भी एक दिन गुणी हो जाता है। ऐसे पुरुष जगत में विरले ही होते है जो स्वयं भी गुणी हो और जो अन्य गुणीजनो म अनुराग भी करते हो।

गुणज्ञ—गुणपारखी ही गुणियो का आदर कर सकता है, उनसे प्रेम कर सकता है, सुन्दर, सुरभित कमल पुष्प का प्रेमी भ्रमर दूर मे भी गुनगुनाता हुआ लपका चला आता है, पर उसी जल मे निवास करने वाले मेंढ़क को कमल के गुणो का आभास भी नहीं रहता।

गुणीजनो मे जहा पारस्परिक मात्सर्य या ईर्ष्या भाव हो—समझना चाहिये कि उनकी गुणवत्ता मे अपूर्णता या अवास्तविकता है। अन्यथा गुणियों मे गुणो और अन्य गुणियो के आदर करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक और सहज रूप मे मिलती है। गौतम गणधर और केशी श्रमण दोनों भिन्न-भिन्न मतावलम्बी थे। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में महान ज्ञानी और सुप्रतिष्ठित थे किन्तु थे दोनो ही परम गुणाढ्य और गुणज्ञ। परस्पर संलापानन्तर केशी श्रमण गौतम स्वामी के गुणों और अपार ज्ञान से प्रसन्न होकर उनसे कहते हैं—गौतम तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरे सारे सशय दूर कर दिये। यह गुणीजनो के प्रति आदर है, गुणों की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। जो सच्चा गुणज्ञ है वह तो गुणार्जन से कृतज्ञ होता है। यह कृतज्ञता ही उसकी विनयशीलता और प्रमोद दोनों भावो की सूचक हो जाती है। वह सदा गुणाढ्यों का गुणगान करने को लालायित रहता है।

इस लोक मे जिन महापुरुषो का मन राग-द्वेष आदि विकारो से रहित हो गया है और प्राणीमात्र के कल्याण के लिए जो सदैव तैयार रहते है—ऐसे महापुरुषो के नाम हम बार-बार स्मरण करते है। महापुरुषों के मार्ग का यदि हमें अनुसरण करना है तो गुणवान महापुरुषों के गुणगान मे चित्त रमाना होगा। जीवनोत्थान का यही सरलतम मार्ग है।

येषां मन इह विगतविकारं ये विदधति भुवि जगदुपकारम्।
तेषां वयमुचिताऽऽचरितानां, नाम जपामो वारंवारम्।

समाप्त

२८

कारुण्य भावना

> देख किसी का दुःख, हृदय जब दुःखी-द्रवित हो जाता।
> दुःख-निवारण हेतु सचेष्ट हो—यह कारुण्य कहलाता॥

कोई है जो दुखी है। उसके दुःख से हमारा हृदय द्रवित होता है, मन में समवेदना जागृत होती है और हम उसके सुख की कामना करने लगते हैं, उसकी पीड़ा को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील हो जाते हैं। पूर्णतः विकसित कारुण्य भावना का यही स्वरूप है। महर्षि वाल्मीकि विश्व के आदि कवि हुए हैं। उनके काव्यारंभ के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है। आकाश में क्रौंच पक्षियों का एक जोड़ा विहार कर रहा था। उसके सरस स्वरों से आकर्षित होकर मुनिवर का ध्यान भी उधर गया और क्रौंच के सुख की अनुभूति में वे आनन्द सागर में निमग्न हो गये। तभी आखेटक का बाण आया और युगल का एक पक्षी उससे बिद्ध हो, आहत अवस्था में धरती पर आ गिरा। दूसरा क्रौंच उसके समीप बैठकर क्रन्दन करने लगा। इस क्रन्दन ने महर्षि के चित्त को द्रवित कर दिया। उनके मन में उद्‌भावित करुणा ही उनके मुख से जो सहसा अभिव्यक्त हो गयी—वही विश्व की आदि कविता बन गयी थी। ऋषि वाल्मीकि क्रौंच की पीड़ा से जब द्रवित हो उठे तो उनके हृदय में जो भावना उठी वह कारुण्य ही है।

कारुण्य का एक परिपक्व और परिपूर्ण रूप गौतम के आचरण में द्रष्टव्य है। सिद्धार्थ गौतम ने भी महर्षि वाल्मीकि जैसा ही तब अनुभव किया था जब गगन-विहारी हंस देवदत्त के बाण से आहत होकर उपवन विहारी गौतम के चरणों में आ गिरा। रक्त-रंजित हंस को तड़पते देखकर सिद्धार्थ उसके कष्ट से कष्टित हो उठे। उनका मन द्रवित हो उठा। सिद्धार्थ की करुणा ने उन्हें कवि बनाकर विराम कर लिया हो—ऐसा नहीं है। उनकी करुणा एक चरण और आगे अग्रसर होती है। सिद्धार्थ उसके सुख के लिए चिन्तित हो उठते हैं। कोमलता के साथ वे आहत पक्षी के तन से बाण निकालते हैं, उसे पीड़ा-मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस करुणा के समग्र और परिपूर्ण स्वरूप का परिणाम भी ध्यातव्य है। हंस की शारीरिक पीड़ा किस सीमा तक दूर हुई—यह तो कदाचित् अलग प्रसंग हो जाता

है, किन्तु मन से अवश्य ही सिद्धार्थ की संवेदना और करुणा पाकर मानसिक सुख की अनुभूति वह पाता है, जिसमे वह अपनी शारीरिक पीडा को भी विस्मृत कर देता है। सिद्धार्थ ने केवल पर-दुःख से हुई कातरता का ही प्रदर्शन नही किया, वे तो उसकी पीडा को दूर करने का प्रयत्न भी करते है। यही यथार्थ स्वरूप है कारुण्य भावना का।

स्वभाव से मनुष्य सुख-प्रिय है। सुख उसके लिए अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। 'आचारांग' मे भी कहा गया है—"**सब्वे सुहसाया दुहपडिकूला**"—अर्थात्—सभी को सुख प्रिय लगता है, अनुकूल लगता है और दुःख आ जाता है तो अप्रिय लगता है, प्रतिकूल लगता है। सुख और दु.ख का तो क्रमिक आवागमन बना रहता है। अनचाहे सुख विदा हो जाता है, अनचाहे ही दुःख उसका स्थान ले लेता है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि यह दु.ख सदा-सर्वदा के लिए स्थापित हो गया है। अनुकूल समय आने पर वह विदा हो जायगा और सुख उसका स्थान ले लेगा। दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद पुनः दिन आ जाता है। वैसे ही सुख-दुःख का भी क्रम बना रहता है। यह एक भोगा हुआ यथार्थ है, किन्तु विचारणीय विषय यह है कि हमारे सुख छिन क्यों जाते है, अभिशाप की छाया के समान क्रूर दु.ख हमे घेर क्यों लेते है ? कारण क्या है ? पूर्वकृत कर्मो के फल रूप में ही दु.ख-भोग की परिस्थितियाँ आ खड़ी होती हैं। अनेकानेक प्रकार के दुःख दृष्टिगत होते हैं। कोई भरे-पूरे जगत में भूख से पीड़ित है, तो कोई सन्तानभाव मे दुःखित है। किसी को भयकर रोग घेरे हुए है, तो कोई सर्वथा रंक है। यह कर्मपरिणाम ही है। कर्मफल रूप मे ही सुखद परिस्थितियाँ भी बनती है। शुभ-अशुभ कर्मों के प्राबल्य परिवर्तनानुसार ही सुख-दु.ख का क्रमिक चक्र भी संचालित होता रहता है।

यही नही अनेक कष्ट मानवकृत भी है जो एक के द्वारा दूसरे को प्राप्त होते रहते है। कोई किसी के क्रोध का लक्ष्य बनता है, तो कोई किसी के लोभ का। एक की कुटिलता और छल-छद्म कितने-कितने जनो के लिए हानि और कष्ट का कारण बनते हैं। मनुष्य क्रोध, ईर्ष्यादि द्वारा स्वयं ही अपने दुःखों का कारण भी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि जगत मे प्राणी विविध कारणो से दुखित हैं, त्रस्त है। विवेकशील जन परदुःख का स्वदुःख की भाँति अनुभव कर कष्टित हो उठते है और करुणा से अभिभूत हो उठते है। करुणा उन्हें पर-दु.ख दूर करने की प्रेरणा देकर धर्म रुचि जागृत करती है।

प्राणी मात्र को स्वसमान समझकर, यह मानकर कि सबको मेरी भाँति सुख ही प्रिय है, ज्ञानीजन पर-सुखार्थ और पर-प्राण-रक्षार्थ स्व-प्राणोत्सर्ग करने से भी पीछे नहीं हटते। अनगार धर्मरुचि ने कडवी तूम्बी के विषाक्त शाक से चीटियो को मरते देखा तो उनमे अनुकम्पा जागी और अन्य प्राणियों की रक्षार्थ शेष विषाक्त शाक स्वयं खा लिया और शरीर-त्याग किया। राजा मेघरथ कबूतर की

रक्षा हेतु अपने प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो गया। करुणा भरे जन इस प्रकार अपने प्राण, जीवन और शरीर का ममत्व त्याग कर परोपकार हेतु अन्य जनों को सुखी करने के प्रयोजन से सदा सब कुछ करने को तत्पर रहते है। उनका चिन्तन रहता है कि परोपकार हेतु ही यह शरीर, शक्ति और जीवन प्राप्त हुआ है। इसी सदुपयोग मे जीवन का साफल्य निहित है। यह करुणा का ही साकार और व्यक्त स्वरूप है।

प्रत्येक परोपकार के पीछे करुणा की भूमिका सक्रिय रहती है, चाहे भूखे को आहार और रोगी को औषधि दी जाय और चाहे मृत्यु-भय से आतंकित को अभय दिया जाय। यथार्थ ही करुणा को दुःखविनाशिनी कहा गया है। '**दीनानुग्रह भावः कारुण्यम्**'—दीनो पर दया भाव रखने को करुणा माना गया है।

करुणा का वास्तविक रूप तब माना जायगा तब करुणाकर सज्जन बिना किसी पक्षपात के, आग्रह-दुराग्रह के बिना—सभी दुखितों के लिए उपकार-सन्नद्ध हो। अपने विरोधियो और अपने अपराधियो के दुःख से द्रवित होकर जो उनके सुखार्थ भी चिन्तित और सक्रिय हों—उसी की करुणा यथार्थ मे करुणा है। मात्र प्रत्युपकार को करुणा की श्रेणी मे परिगणित नही किया जा सकता। सगम देव ने भगवान महावीर को कितना कष्ट पहुँचाया, किन्तु भगवान के मन मे उसके प्रति भी करुणा जागी और वे यह चिन्तन कर दुखित ही हुए कि मुझे कष्टित करने के कुकर्मों के परिणामस्वरूप यह बेचारा आगामी जन्मो में कितने कष्ट भोगेगा। यह साधारण से उच्च, उत्तम कोटि की करुणा कही जायगी।

सेवा, सहायता, आरोग्यदान, सहयोग, दान, कल्याणार्थ शुभ कामना और प्रार्थना करना आदि अनेक माध्यमो से करुणा के अनेक रूप व्यक्त होते है। मृत्यु-भय से आक्रान्त को अभय देना करुणा का सर्वोत्तम रूप है। वर वेश मे अरिष्ट-नेमि जब वधू-द्वार पर पहुँचे, मूक पशु-पक्षियो के करुण आर्तनाद से वे विह्वल हो उठे जिन्हे अतिथियो के सामिष आहारार्थ पकड़कर बाँधा गया था। प्राणो के भय से आतंकित इन पशु-पक्षियों को अरिष्टनेमि ने मुक्त कर दिया और अभयदान दिया। करुणा का यह उद्धरण सिद्ध करता है कि करुणा की पात्रता मनुष्यों तक ही सीमित न रहकर प्राणिमात्र तक व्याप्त है। कारुण्य-चिन्तन मन को कोमल बना देता है, परोपकारार्थ प्रेरणा देता है और मनुष्य को मनुष्योचित मार्ग पर तीव्रता से अग्रसर करता है। □

माध्यस्थ भावना

सुख चाहो तो राग-द्वेष—दुःख मूल करो तुम नष्ट।
हित-अनहित प्रति समत्व भाव से करो उपेक्षा स्पष्ट॥

सुख सभी के लिए सदा से ही वरेण्य रहा है और दुःख से कोई नाता नहीं रखना चाहता। सुखद परिस्थितियों के लिए आवश्यक है कि दुःख का सर्वथा उन्मूलन हो जाय। सुख और दुःख दोनों का एक साथ रहना अशक्य है। दुःख को मार भगाइये सुख स्वतः ही चला आएगा। इस दुःख को कैसे हटाया जाय? दुःख को हटाने का तात्पर्य यह है कि दुःख की उत्पत्ति को रोका जाय। यदि विचारपूर्वक देखें तो हम पाएँगे कि कोई अप्रिय फल यदि अकाम्य हो तो फलों को तोड़कर फेंक देने मात्र से काम नहीं बनता, उनके स्थान पर वैसे ही अन्य फल आ जायेंगे। जिस शाखा पर ये फल है उसे तोड फेंकने से भी कुछ न होगा। अन्य शाखा पर फल आने लगें—ऐसा हो सकता है। उस वृक्ष को ही काट डाले तब भी उसके फिर से फूट निकलने की आशंका बनी ही रहेगी। जो कारगर उपाय हो सकता है वह तो यह है कि उसकी जड को ही काट दिया जाय; फिर न वृक्ष रहेगा, न शाखाएँ और न ही फल। दुःख पापकर्मों के फल है और कर्म रागद्वेष के परिणाम है। अतः राग-द्वेष से ही मुक्त हो जाना होगा। अशुभ कर्मों पर स्वतः रोक लग जायगी और दुःख विधान स्थगित हो जायगा। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक सुख-कामी का प्रथम चरण होना चाहिये।

राग-द्वेष का उन्मूलन मुहूर्त मात्र मे संभव नहीं होता—यह सत्य है। इसके लिए साधना का एक क्रम-विशेष है। शुभ भावनाओं का चिन्तन-अनुचिन्तन हमें क्रमशः उस साधना पथ पर अग्रसर करता रहता है। राग हमारे मन को आकर्षण और अनुरक्ति से भर देता है, आसक्त बना देता है हमारे चित्त को। हम संबद्ध हो जाते है मात्र राग-विषयों तक और आत्मा इस प्रकार संकीर्ण हो जाती है। द्वेष हमारे मन को कालुष्य से भर देता है और अन्यान्य अशुभ भावनाओं-घृणा, क्रोधादि को निमंत्रण देता है। यह द्वेष भी विषय विशेष से होता है। जगत के समस्त विषयों वस्तुओं से एक साथ न राग हो सकता है, न द्वेष रूप में किसी वस्तुविशेष

के गुणावगुण से उसके प्रति राग-द्वेष होने लगता है। हम केन्द्रित और सीमित हो जाते है उस वस्तुविशेष तक।

मैत्री और प्रमोद भावना आत्मा का विकासात्मक विस्तार करती है। हमारे हृदय की परहित भावना व्यापक होती है—सभी के हित की कामना का विस्तृत पट उस चिन्तन की लीला-स्थली है। प्रमोद भावना मे भी गुणीजनो के आदर और उनमे प्रीति का प्रसग जहाँ है, वहाँ कोई सीमा नही है। जहाँ भी, जिसमे भी गुण दृष्टिगत हो जायँ—वह ग्राह्य है। यह गुणी व्यक्ति चाहे जैसा भी हो, किसी भी वश-कुल का हो, किसी भी मत का अनुयायी हो—इससे कोई अन्तर नही आता। ये मैत्री और प्रमोद भावनाएँ आत्मा के क्षेत्र को इस प्रकार विस्तीर्ण करती है, किसी प्राणीविशेष से नही जोडती और इस प्रकार राग-द्वेष का तेज स्वत. मन्द होने लगता है। जब हम किसी व्यक्तिविशेष के हित की कामना करते है तो वह राग है, किन्तु जब समस्त प्राणियो के हित का चिन्तन करते है तो वह मैत्री भावना है। सकीर्ण होकर राग अशुभ और क्षुद्र हो जाता है, व्यापक होकर वही अशुभता से छूट कर नि:स्वार्थता की आभा से जगमगा उठता है, शुभ बन जाता है। उसका दोष नष्ट हो जाता है। जीव मात्र के साथ मैत्री भाव राग तो अवश्य है, किन्तु यह उस का उदात्त स्वरूप है जो ग्राह्य है, त्याज्य नही। यह समभाव कि हित-अनहित, शत्रु-मित्र का भेद किये बिना सभी की हितचितना की जाय—राग को उदात्त बना रहा है। राग-द्वेष पर विजय-स्थापना के दो सरल उपाय है—समत्व भावना और उपेक्षा-वृत्ति। साधक राग-द्वेष का प्रसंग आ जाने पर तटस्थ हो जाता है। 'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर' की भावना प्रबल हो उठती है। न हितकर के प्रति अनुराग, न अहितकर के प्रति घृणा, क्रोध और द्वेष का होना तटस्थता या उदासीनता है। यही उपेक्षा भावना है। यह तटस्थता ही माध्यस्थ भावना है। उदारहृदय ही इस महती भावना को धारण करने की क्षमता रखता है।

इन्द्रियो का स्वभाव है कि वे अपने-अपने विषयो मे ग्रस्त हो। कान सुनेगा, आँख देखेगी, रसना स्वाद लेगी आदि-आदि। इन्द्रियो के इन विषयो मे अशुभ और शुभ, असुन्दर और सुन्दर सभी प्रकार की स्थितियाँ होगी। सुन्दर सरस सगीत भी हो सकता है, हमरी कटु निन्दा भी हो सकती है। कान को एक स्वर रुचिकर लगता है, दूसरा स्वर अप्रिय भी लग लगता है। यहाँ विचारणीय यह है कि यह जो शब्द है वह स्वय मे न प्रिय है, न अप्रिय है। वह न हमे सुखी कर सकता है न दुखी। यह तो हमारे मन का राग-द्वेष ही है जो विषय को प्रिय या अप्रिय बनाकर उसे सुखद अथवा दुखद बना देता है। सगीत के प्रति हमारे मन मे राग जागा, वह प्रिय लगा उसने हमे सुख दिया। निन्दा के प्रति द्वेष जागा वह अप्रिय लगी, उसने हमे दुख दिया

अभिप्राय यह है कि ये हमारे मन की राग-द्वेषात्मक भावनाएँ ही है जो हमारे सुख-दुःख की कारण बनती है। यह राग भी तात्कालिक रूप से क्षणिक सुख का आभास भले ही कराता है—अन्तत तो दुखद ही होता है। वह सुख सच्चा सुख नही, सुखाभास मात्र होता है। तो राग-द्वेष ही दुख के लिए आधारभूत होते है। इन पर विजय प्राप्त करना दु.ख पर ही विजय प्राप्त करना है। विषयों से राग-द्वेष न कर तटस्थ रहना इसका उपाय है। अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय सबके प्रति उपेक्षा रखी जाय, किसी को ध्यातव्य स्थान न दिया जाय—माध्यस्थता यही है।

अज्ञानवश कोई जब कुमार्ग पर जा रहा हो तो उसके अशुभ कर्मों की अशुभ परिणति—भावी घोर दुखों के आभास से मन द्रवित हो उठता है। हम उसके हित-चिन्तक हो उठते है, उसकी कल्याण-कामना करने लगते है। यही नही, हम उसे सुमार्ग पर भी ले आना चाहते है। उसे उपदेश देते है। यदि हमारा यह प्रयत्न सफल नही होता, उस पर उपदेशों का प्रभाव नही होता, वह हमारे उपदेशों पर ध्यान ही नही देता और उन्ही दुष्कर्मों मे सतत रूप से प्रवृत्त रहता है, तो इसकी प्रतिक्रिया हम पर क्या होनी चाहिये ?

यह भी बहुत स्वाभाविक है कि हमारे मन मे उसके प्रति आक्रोश का भाव जागे, रुष्टता बलवती हो जाय। किन्तु ऐसा होना नही चाहिये। यहाँ भी माध्यस्थ भावना का ही स्थान महत्वपूर्ण और अपेक्षित रहेगा। उस पर रोष करना व्यर्थ होगा, उपेक्षा ही की जानी चाहिये। घोड़े को नदी के बीच मे ले जाकर खड़ा कर देने तक हमारा प्रयत्न सीमित है। पानी तो वह अपनी इच्छा से स्वयं ही पीएगा। न पीए तो न पीए—हमने अपनी भूमिका का निर्वाह कर लिया, आत्म-सतोष के लिए यही क्या कम है। उसे जबरन पानी पिलाया नही जा सकता। उपदेशों की उपेक्षा करने वाला स्वय ही हमारे लिए उपेक्षा का मात्र है।

भगवान महावीर ने स्वय एक अनुकरणीय आदर्श इस सम्बन्ध मे श्रमणजन के समक्ष प्रस्तुत किया था। भगवान का शिष्य—जमाली—जो उनका जामाता भी था, जब उन्ही के समक्ष मिथ्याप्ररूपणा करने लगा तो भगवान ने उसे प्रताड़ित नही किया, बलात् उसे सन्मार्ग पर ले आने का प्रयत्न नही किया। उससे द्वेष भी नही किया, मात्र उपेक्षा की। कहता है तो कहता होगा ......हमे क्या ? यह उपेक्षा भाव है। विपरीतगामी के प्रति इसी प्रकार की तटस्थता—मध्यस्थता, या उदासीनता अपेक्षित है। रोष या द्वेष करने से तो स्वय हमे ही क्लेश होगा, उसमे किसी परिवर्तन की सम्भावना तब भी नही बनेगी।

जो हमारा विरोध करे, हमारे वर्ग अथवा मत का विरोध करे, उस व्यक्ति, मत अथवा वर्ग का प्रत्युत्तर मे विरोध किया जाना अपेक्षित नही है। उसका तिरस्कार करना उसका खण्डन कर अपना मण्डन करना भी वांछित नहीं है।

ऐसी अवस्था मे उस की उपेक्षा ही की जानी चाहिये। विरोधी के प्रति की गयी यह उपेक्षा ही तितिक्षा है। इसी में हमारी उदारता निहित है।

उवेह एणं बहिया य लोगं
से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू।

आचारांग से उद्धृत भगवान महावीर की वाणी का कथ्य है कि अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखो। विरोधी के प्रति उपेक्षा के कारण उद्विग्नता नही होती। ऐसा तटस्थ व्यक्ति विश्व के समस्त विद्वानो में अग्रणी है—सिरमौर है। उसकी तटस्थता मे ही विद्वत्ता का निवास है। वह यह आग्रह नहीं पालता कि उसके विचार ही सर्वश्रेष्ठ है, सबके लिए अनुकरणीय है। वह आग्रह को भी परिग्रह मानता है। प्रबल आग्रहवश वह अपने सत्य को दूसरो द्वारा बलात् मनवाने का औचित्य स्वीकार नही कर पाता है। अपने पर विरोधियों द्वारा लगाये गये मिथ्या आरोपों और लाछनो का वह प्रतिकार भी नही करता—यह उपेक्षा भावना का चरम है। उसे तो यह दृढ विश्वास है कि जगत् भली भाँति समझता है कि सत्य क्या है—इसके कथन मात्र से क्या बनता-बिगडता है। यदि आज जगत उस वास्तविकता को न भी समझ सका तब भी एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब वह स्वत. समझ जायगा और वही स्थायी समझ होगी। गोशालक ने जब भगवान ने समक्ष यह कहा कि तुम जिन नही हो, जिन मैं हूँ। मै सर्वज्ञ हूँ। तो भगवान ने उसकी मूढ़ता की उपेक्षा कर दी। वे तर्क में ग्रस्त नही हुए। माध्यस्थ भावना का यही रूप तितिक्षा है। हमारे पास यदि स्वर्ण है तो वह स्वर्ण ही रहेगा। ईर्ष्या या मूढतावश कोई विरोधी उसके पीतल होने की घोषणा करता फिरे तो इससे वह पीतल नही हो जायगा। न ही हमे उसे स्वर्ण सिद्ध करने के उद्यम मे लगने की आवश्यकता है। वह तो स्वयसिद्ध है। उस विरोधी की उपेक्षा ही विरोध को मार देगी। विरोध का विरोध तो विरोध को और प्रबल बना देता है।

माध्यस्थ भावना के चिन्तन से हम में तटस्थ रहने की प्रवृत्ति जागती है। यह भावना विरोधियो के मध्य अविरोध भाव से जीने की कला सिखाती है, मन को क्लेश और अशान्ति से बचाने का कौशल सिखाती है, आग्रह-दुराग्रह के भँवर से हमारा त्राण करती है और वैचारिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो मे उदारता का व्यवहार सिखाती है। □

३१

जिनकल्प भावनाएँ

आध्यात्मिक शक्तियों हेतु जिनकल्प भावना तुला समान।
साधक इन पर तौल अभावों को अपने लेता पहचान॥

जैन परम्परा में 'कल्प' एक बहुव्यवहृत और अति प्रचलित शब्द है जिसका अर्थ आचार, मर्यादा, समाचारी (वर्तनाविधि) आदि है। तदनुसार तो श्रमण और श्रावकों के आचरण और मर्यादाओं का अध्ययन कल्प का विषय निर्णीत होता है, किन्तु अपने विशिष्टार्थ में कल्प साधुओं के आचार मर्यादा का ही वर्णन है—**'कल्प शब्देन साधुनामाचारो प्रकथ्यते'**। आगमों के अनुसार साधु-मर्यादा और आचरण अर्थात् कल्प के दो भेद किये गये हैं—

(१) जिनकल्प और

(२) स्थविरकल्प

एक प्रकार से ये श्रमणों के ही भेद हैं। साधु जीवन के लिए आगमों द्वारा जिन नियमों और व्यवस्थाओं का निर्धारण किया गया है, उनका निर्दोष पालन करते हुए संघ में रहकर साधना करने वाले स्थविरकल्पी मुनि होते हैं। आरम्भ में जैन श्रमण सभी स्थविरकल्पी ही होते हैं, संघ उनके लिए अनिवार्य होता है। संघ के किसी स्थविरकल्पी मुनि को जब विशेष तप और कर्म निर्जरा करने की भावना होती है, तो वह संघ त्याग कर एकाकी तापस हो जाता है। यही जिनकल्पी मुनि कहलाता है। जो तीर्थंकर देव (जिन) के समान आचार करते हैं, वे जिनकल्पी मुनि हैं। ये राग-द्वेष को जीतकर उपसर्ग-परीषहों को तितिक्षा भाव से सहते हैं। इनके परीषह भी बड़े दुर्दान्त होते हैं और उन्हें सहने की उनकी क्षमता भी अद्भुत होती है। वे वीतराग के समान ही विहार करते रहते हैं।

स्थविरकल्पी मुनि संयम आचार की मर्यादापूर्वक एक लम्बी अवधि तक पालना के पश्चात् ही चिन्तन करता है कि मैंने इस लम्बी अवधि में जिज्ञासुओं को ज्ञान दिया, दीक्षा दी, अब मेरे लिए कर्म क्षयार्थ विशिष्ट तप अपेक्षित है और तब जिनकल्पी स्वरूप की भूमिका आरम्भ होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जिनकल्पी मुनि के लिए अतिविशिष्ट आत्मशक्तियों की अपेक्षा होती है। इसके अभाव में जिन-कल्पी साधु होना संभव नहीं। अतः तप, सत्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन जिनकल्प

भावनाओं का विशेष रूप से उन साधुओं के लिए विधान किया गया है जो जिनकल्पी श्रेणी में प्रवेशार्थ उत्सुक है। वस्तुत ये भावनाएँ साधु के लिए कसौटियाँ है, जिन पर कस कर वह इस बात की परीक्षा करता है कि उसकी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास किस सीमा तक हो चुका है। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि जिनकल्पी स्तर हेतु जितनी शक्ति, सामर्थ्य अपेक्षित मानी जाती है, उतनी उसमे विद्यमान है, अथवा कुछ अभाव अब भी है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस प्रकार वह आध्यात्मिक शक्तियो की जो है और जो होनी चाहिये— इन दो अवस्थाओं की तुलना कर लेता है। कदाचित् ऐसे ही कारणो से इन भावनाओं को 'भावना' के स्थान पर 'तुलना' भी कहा जाता है। ये भावनाएँ तुला की भाँति है जिन पर साधक अपनी अर्जित आध्यात्मिक शक्तियों को तौलकर निर्णय करता है कि ये अपेक्षित से न्यून तो नही हैं। यदि न्यूनता प्रतीत होती है तो वह पूर्ति के प्रयत्नो मे प्रवृत्त हो जाता है। यही लक्ष्य साधु के सामने होता है कि वह जिनकल्पी बन सके और इसकी तैयारी मे ये तुलनाएँ या भावनाएँ उसका सहयोग करती है। अत इन्हें जिनकल्पी भावनाएँ कहा गया है।

ये जिनकल्पी[1] भावनाएँ ५ प्रकार की होती है—

(१) तपोभावना

(२) सत्व भावना

(३) सूत्र भावना

(४) एकत्व भावना

(५) बल भावना

तपोभावना

आत्मा को तोलने के क्रम में साधक सर्वप्रथम तप को साधन बनाता है। वह क्रमशः धीरे-धीरे तप मे प्रवृत्त होता है। आरभ ही उग्र या कठोर तप से नहीं किया जाता। वह ६ मास तक तपोनुष्ठान करता है। यह साधक की अतिरिक्त, विशिष्ट गतिविधि होती है, अत उसे यह ध्यान रखना होता है कि इसके कारण उसकी अन्य निर्धारित सामान्य साधनाओ मे व्यवधान न आए। आत्मा को इसी कारण धीरे-धीरे तप द्वारा साधा जाता है। तपश्चर्या के दौरान अनेक परीषह आते है— उन्हे धैर्यपूर्वक सहन करता हुआ वह तपरत बना रहे, यह आवश्यक है। एषणीय आहार प्राप्त न होने पर अनेषणीय आहार ग्रहण न करे और उपवास आदि तप करता जाये। तप से साधु मे ऐन्द्रिय-विषय-विमुखता बढ़ती है, परीषह सहने की क्षमता बढती है, तितिक्षा बढती है। कष्ट सहन करने से अपार शान्ति का अनुभव भी होता है। क्षुधा-विजय तप की अति महत्वपूर्ण उपलब्धि रहती है। सुख-कामना पर भी वह विजयी हो जाता है।

---

१ तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता जिणकप्पं पडिवज्जओ॥

सत्व भावना

तपस्या क्रम मे देव, मानव, तिर्यंच, तस्कर, राक्षस, नाग, सिहादि द्वारा प्रस्तुत परीषहो का सधैर्य सामना करने और इन बाधक तत्वों का भय न मानने का अभ्यास भी साधक द्वारा किया जाना आवश्यक है। सत्व भावना का प्रयोजन इसी अभ्यास से है। सत्व का अर्थ ही अभय है। साधना मार्ग पर यात्रा करने के लिए यह निर्भीकता अत्यन्त अनिवार्य रहती है। भगवान महावीर स्वामी ने इस अभय की अनिवार्यता इस रूप मे प्रतिपादित की है कि इस विशेषण से रहित जो हैं, उनकी दशा कैसी रहती है। भगवान का कथन (प्रश्नव्याकरण से उद्धृत) है—

'भीओ भूएहि घिप्पइ'

भयभीत जन भूतो की बलि हो जाते है। भयातंकित व्यक्ति सदा चचल और उद्विग्न रहता है, स्थैर्यहीन दशा में उससे कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य संभव नही हो पाता। अपने अन्यार्थ मे सत्व का प्रयोग पौरुष और साहस के निमित्त भी होता है। साधना के दौरान साधक को वन, पर्वत, कन्दराओ, खण्डहरो और श्मशानो मे रहना पड़ता है। वन पशुओं की बाधाओ की आशका प्रतिक्षण रहा करती है। उनकी भयावह ध्वनियाँ गूँजती रहती हैं, भयानक निर्जनता साँय-साँय करती रहती है, घना अंधकार घेरे रहता है। नाग, श्वान, सिंह आक्रमण करते हैं। श्मशान में चिताएँ प्रज्वलित रहती है। ऐसे भयंकर स्थलो पर जब तापस को अविचलित भाव से साधना करनी हो तो उसमे अभय, साहस, पौरुष आदि की कितनी गभीर आवश्यकता है—इसका हम सहज ही अनुमान लगा सकते है।

सत्व भावना मे पाँच प्रतिमाओं का विधान रहता है। पहली प्रतिमा उपाश्रय मे, दूसरी उपाश्रय से बाहर, तीसरी चौराहे पर, चौथी शून्यगृह में और पाँचवी प्रतिमा श्मशान में होती है। साहस के यह उत्तरोत्तर विकास का ही क्रम है। एकान्त स्थलो पर एकाकी रहकर, तन्द्राहीन अवस्था में उसे साधना का अभ्यास करना होता है। माया के प्रपंचों और राक्षसों की गतिविधियो से भी वह रोमाचित या विचलित न हो, क्रूर अट्टहासो से भी उसकी स्थिरता अप्रभावित रहे—यह नितांत अनिवार्य होता है। प्रतिमाओं का इस क्रमिक रूप में अभ्यास करने से साहस मे भी क्रमश: विकास होता रहता है और साधक को भी आत्म-परीक्षा का अवसर सुलभ होता है कि वह किस सोपान तक की योग्यता अर्जित कर चुका है। इससे आगामी स्तर हेतु प्रयास का आत्म-विश्वास भी उत्पन्न होता है। सत्व भावना के अभ्यास से जिनकल्प की दुरूहता को पार करने की क्षमता और निर्भीकता व निश्चिन्तता विकसित होती है। किसी भी बाधा से वह विचलित न हो, प्रत्येक परीषह को साहस के साथ सहन करले—यह शक्ति सत्व भावना से आ जाती है। भय और निद्रा पर सत्व भावना सम्पन्न साधक विजयी हो जाता है भगवान महावीर स्वामी ने साढ़े बारह वर्ष की

अपनी छद्म साधनावस्था में एक मुहूर्त में भी कम निद्रा ली। यह सत्व भावना का ही प्रभाव था।

सूत्र भावना

'श्रुत अथवा ज्ञान' ही सूत्र का अर्थ है। स्वाध्याय, वाचना, पृच्छना आदि से आरम्भ में मन में ज्ञान के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है और तब साधक धीरे-धीरे ज्ञान सरोवर में अपने चित्त को निमग्न ही कर लेता है। सतत चिन्तन और स्वाध्याय से मानसिक स्थिरता को भी बढ़ावा मिलता है। सूत्र भावना से मन आलोकित और निर्मल हो उठता है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है, धर्म में आस्था एवं जिनवाणी में अडिगता का भाव प्रबल हो जाता है। प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ वह गाथा आदि का पाठ करता रहता है। परिणामत प्रतिपन्न वह समयादि की अवस्था से परिचित रहता है। उसे घड़ी की आवश्यकता नहीं रहती। उसे काल ज्ञान स्वत ही होता रहता है। इस आधार पर वह आवश्यक क्रियाएँ यथासमय सम्पन्न करता रहता है। सूत्राभ्यास से मानसिक एकाग्रता भी बढ़ती है और वह एकाग्रता कर्म निर्जरा में सहायक होती है। वह पराश्रयी ज्ञान नहीं रखता, अपितु स्वत जागृत रहता है।

एकत्व भावना

एकत्व भावना अपनी आत्मा को सबसे भिन्न, पृथक और एकाकी अनुभव करने की क्षमता का साधक में विकास करती है। प्रव्रजित होकर, विरक्त होकर, घर-बार त्याग कर ही उसने साधु-जीवन अंगीकार किया है—यह सत्य है, किन्तु इस नये जीवन में भी गुरु शिष्य का नाता रहता है, मुनि-मुनि का नाता और श्रमण-श्रावक सम्पर्क भी रहता ही है। स्वाध्याय एवं साधना-साधनों का आश्रय भी लेना ही होता है। वस्त्रादि आवश्यक उपकरणों का भी योग बना रहता है। ऐसी स्थिति में इन सबके प्रति एक राग भाव विकसित हो जाने में कोई नितान्त अस्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती। एकत्व भावना द्वारा इस राग को भी यथोचित सीमा तक कम किया जाता है। इस भावना के अधीन साधक का चिन्तन रहता है कि—

'एगोऽहं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सइ।'

मैं एक हूँ (आत्मा), मेरा कोई नहीं, मैं भी किसी का नहीं। बाह्य स्थूल वस्तुओं के प्रति ही यह एकत्व भाव आरम्भ में जागृत होता है, किन्तु धीरे-धीरे इस का सम्बन्ध स्वदेह से भी होने लगता है—

'देह य न सज्जए पच्छा'

अर्थात् देह के प्रति भी राग या ममत्व न करे। देह भी त्याज्य है, पर है और पर को स्व मानना अज्ञान और मोह मात्र है जो एक बन्धन है। साधक इस बन्धन से भी मुक्त हो जाता है और तभी उसकी एकत्व भावना की सफलता मानी जाती है वह देहातीत अवस्था का अनुभव कर आनन्दित रहने लगता है

बल अथवा धृति भावना

'धृति' का अर्थ है धैर्य। धैर्य सबसे बड़ा मनोबल होता है। इसी कारण से इसे धृति अथवा बल भावना कहा जाता है। साधना के क्रम में उपस्थित होने वाली परीषह बाधाओं का अविचल भाव से सामना करना ही धैर्य है। यह निश्चलता ही मनोबल की प्रतीक है। उपसर्ग और परीषहों से विचलित होकर जो साधक इस साधना पंथ का ही परित्याग कर देता है वह तो उस भीरु सैनिक के समान होता है जो शत्रु सैन्य के आगमन पर रणक्षेत्र से ही पलायन कर देता है। ऐसे साधकों के विषय में निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने में धृति या बल भावना को यथोचित रूप में विकसित नहीं किया। इस तत्परता के पूर्व ही साधना समारंभ का दुष्परिणाम ही उनके पलायन के रूप में प्रकट होता है। साधक के लिए कहा गया है—

'दुक्खेण पुट्ठे धुवमायएज्जा'

—दशवैकालिक, ६

अर्थात् संकट आने पर ध्रुवता और धैर्य धारण करना चाहिए। युद्ध भूमि में जैसे गजराज साहस और धैर्य के साथ डटा रहता है (**संगमसीसे जह नागराया**) वैसे से ही यह सोचकर साधक को परीषहों के मध्य अडिग हो जाना चाहिये कि बाधाएँ अधिकतम यही तो कर सकती हैं कि मेरा शरीर नष्ट कर दें। शरीर तो वैसे भी नाशवान है। उसके ममत्व में पड़कर साधनाच्युत होना उचित नहीं है।

धृति भावना अन्य भावनाओं के लिए भी आधारभूत होती है। **'तवस्स मूल धिति'** मानकर इसकी प्रतिष्ठा इस प्रकार वर्धित कर दी गयी है कि धृति के अभाव में न तप संभव है, न ध्यान। बिना मनोबल के कोई भी भावना सफल नहीं हो सकती। तपश्चर्या, अभय, ज्ञानाभ्यास, एकाग्रता, स्थिरता, परीषह-विजय सभी के लिए धृति की अनिवार्य अपेक्षा रहती है अतः सभी भावनाएँ धृतिबल-पुरस्सर मानी गयी हैं—

धिइबल पुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता।
न तु विज्जइ अज्जं ज धिइमंतो न साहेइ ॥ □

३२

ज्ञान-चतुष्क भावनायें

"भावनाभिरसमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत्"

दर्शन, चारित्र, वैराग्य, ज्ञान में जो मुनि खो जाता है।
जीत मोह को ध्यान-स्थिति में वह स्थिर हो जाता है॥

विभिन्न विद्वानों एवं चिन्तकों द्वारा भावनाओं का विवेचन अपने-अपने ढंग से किया गया है। यह अन्तर मात्र समूहीकरण अथवा वर्गीकरण का है। अन्यथा तात्विक और ताथ्यिक दृष्टि से भावनाओं का प्रतिपादन एकरूप है। प्रस्तुतीकरण की शैली पृथक्-पृथक् रही है। 'ज्ञान चतुष्क भावना' शीर्षक से प्रमुख भावनाओं का पुनर्प्रस्तुतीकरण हुआ है एवं उनकी सर्वोपरि महत्ता प्रतिपादित की गयी है। 'ध्यान शतक (आचार्य हरिभद्र) और आदिपुराण (आचार्य जिनसेन) में 'चार भावना' का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है। ज्ञान चतुष्क के अन्तर्गत ४ भावनाएँ है—

(१) ज्ञान भावना
(२) दर्शन भावना
(३) चारित्र भावना
(४) वैराग्य भावना

इस चतुष्क के अधीन उपर्युक्त ४ भावनाओं का एक विशिष्ट समान धर्म संकेतित किया गया है। इस समूह की भावनाओं के चिन्तन से—"भावणाहि झाणस्स जोग्गयवमुवेइ' —ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। मुनिजन इनके चिन्तन से मोह को पराजित करने मे समर्थ हो जाते है और ध्यान मे स्थिर हो जाते है—

भावनाभिरसमूढो मुनि ध्यानस्थिरोभवेत्।

भावना की यह परम उपलब्धि है। ध्यान से ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है—जिसमे साधक का सहयोगी होना भावना का लक्ष्य है।

ज्ञान भावना

ज्ञान-साधना मे तल्लीनता साधु के लिए अपेक्षित है। ज्ञान की महत्ता का चिन्तन ही इस भावना का मूल प्रयोजन है। साधु श्रुतज्ञान में लीन रहता है। [illegible]

ज्ञान-सान्निध्य से आत्मा अशुभ भावनाओं से विच्छिन्न होकर शुद्ध चिन्तन में विहरने लगती है। ज्ञान ही समस्त भावनाओं और साधनाओं का आधार है। श्रुताध्ययन ही तत्त्व-अतत्त्व, जीव-अजीव आदि का अन्तर स्पष्ट करता है। आत्मा एक उज्ज्वल आलोक से कान्तिमान हो उठती है। भ्रम-भ्रान्तियों का तम छँट जाता है और आत्मा को अपना पथ स्पष्ट दृष्टिगत हो जाता है। इस सुविधा के बिना लक्ष्य पर पहुँचना असम्भव ही हो जाता है। यही वह स्थिति है जब साधक ध्यान क्षेत्र में स्वयं को स्थिर कर लेता है। श्रुताभ्यास के कुल पाँच भेद किये जाते हैं—

(१) वाचना (२) पृच्छना (३) सानुप्रेक्षण (४) परिवर्तना और (५) धर्म-उपदेश।

इनमें से प्रथम चार भेदों को एक वर्ग में रखा जा सकता है। इस वर्ग का सम्बन्ध ज्ञानार्जन और अर्जित ज्ञान को परिपक्व करने के प्रयत्नों से है। पाँचवाँ भेद ऐसा श्रुताभ्यास है जिसके द्वारा अज्ञजनों को अपने अर्जित ज्ञान से लाभान्वित करने का पक्ष अतिरिक्त रूप से जुड़ा रहता है। वाचना में साधक स्वाध्याय करता है, स्वयं ग्रन्थों का पारायण करता है। पृच्छना के अन्तर्गत ज्ञान के प्रमुख और जटिल बिन्दुओं पर अन्य विज्ञजनों के साथ विचार विमर्श का जिज्ञासा-तुष्टि का क्रम रहता है। इस प्रकार साधक मर्म को हृदयंगम करने में समर्थ हो जाता है। सानु-प्रेक्षण में पदार्थों के स्वरूप का अध्ययन और चिन्तन अपेक्षित रहता है। और परिवर्तना में आगमों की गाथा श्लोकादि को कंठस्थ कर बार-बार उनकी आवृत्ति पुनरावृत्ति की जाती है। इस प्रकार ज्ञान मानस का स्थायी और अविच्छिन्न भाग बन जाता है। श्रुताभ्यास का ५वाँ भेद अर्जित ज्ञान का धर्मोपदेश द्वारा अन्यजनों तक पहुँचाने के प्रयत्न से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान स्थिर होता रहता है।

श्रुताभ्यास से एकाग्रता का अभ्यास होता है और मन ध्यान में स्थिर होने लगता है।

दर्शन भावना

ज्ञान के पश्चात दर्शन का स्थान है। प्राप्त ज्ञान में यदि कोई शंका, संशय अथवा विचिकित्सा शेष रह जाती है तो दर्शन द्वारा उसे दूरकर सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है। संवर भावना के अन्तर्गत सम्यक्त्व और दर्शन का विस्तृत स्वरूप स्पष्ट किया गया है। दर्शन का आशय ही सम्यक्दर्शन, सम्यक्श्रद्धा से है। मानसिक स्थिरता के लिए श्रद्धा, असंशय अवस्था का होना नितान्त अनिवार्य है और वह सुलभ हो जाती है सम्यक्दर्शन से। अस्तु, दर्शन भावना का चिन्तन अति महत्वपूर्ण है। संशय वह महागर्त है जो साधक को लक्ष्य तक पहुँचने ही नहीं देता। भगवान का कथन है—

कह कह वा वितिगिच्छ तिण्ण

इस संशय रूपी महागत में किसी न किसी प्रकार पार हो ही जाना चाहिये संशय हृदय को श्रद्धाशील नहीं होने देता और श्रद्धाहीन हृदय साधना में स्थिर नहीं हो सकता है। सम्यक् श्रद्धा से ही वैराग्य सुदृढ़ होता है, मन अमूढ़ हो जाता है और मोह का खण्डन होता है। सम्यक्दर्शन की सात भावनाएं है —

(१) संवेग—संसार से भय

(२) प्रशम—वैराग्यानुभूति

(३) असमूढ़ता—धर्म विषयक व्यामोह अर्थात् मूढ़ता का त्याग

(४) स्थैर्य—तत्वों में दृढ़ श्रद्धा रखकर अडिग रहना

(५) अस्मय—अहंकार का त्याग

(६) आस्तिक्य—आत्मा के पुनर्जन्म आदि में विश्वास

(७) अनुकम्पा—जीव मात्र के लिए दया-करुणा

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार सम्यग्दर्शन के आठ गुण है—

(१) संवेग (२) निर्वेद (३) आत्मनिन्दा (४) गर्हा (पापों के प्रति घृणा) (५) उपशम (कषायों की मन्दता) (६) गुरु-भक्ति (७) वात्सल्य (८) दया।

इन गुणों और भावना में चित्त को रमाना स्थिरता के लिए अपेक्षित रहता है।

चारित्र भावना

आत्मा को कर्मों से रिक्त करने का उपाय ही चारित्र है। **'चयरित्तकरणं चरित्तं'**—कथन से कर्मसंग्रह को रिक्त करने की प्रवृत्ति का ही परिचय मिलता है। पंच महाव्रत और श्रावकजनोचित्त बारह व्रतों को चारित्र के अन्तर्गत माना जाता है। इन व्रतों की शुद्धता एवं स्थिरता हेतु सचेष्ट होना ही चारित्र भावना का लक्ष्य है। संवर द्वारा नवीन कर्म बन्ध को रोकना और निर्जरा द्वारा संचित कर्मों को निःशेष करना इस भावना के लक्षण है। पांच समितियाँ, ३ गुप्तियाँ (योग-आठ) और परीषहजय—चरित्र भावना के ये नौ भेद आचार्य जिनसेन द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

वैराग्य भावना

रागहीन हो जाना ही वैराग्य है। द्वेष को जीतना सरल होता है। किन्तु राग-विजय दुस्तर है। अतः राग को द्वेष की अपेक्षा बड़ा शत्रु माना जाता है। वीतराग दशा को प्राप्त करना वैराग्य भावना का अन्तिम लक्ष्य होता है। जगत की असारता, स्वजन-परिजनों सम्बन्धों की असारता, उनकी अशरणता, मन ही मन निस्संगता आदि का अनुभव कर आशा-आकांक्षाओं से मुक्त और आसक्तिहीन हो

जाना—वैराग्य भाव के ये ही लक्षण है। वैराग्य सम्बन्धी द्वादश भावनाओं का विवेचन पिछले पृष्ठों में सविस्तार हो चुका है। उनका निरन्तर चिन्तन किया जाना चाहिये।

भावनाएं मनुष्य को उसके परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में सच्चा सहयोग देती है। और उसे अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवृत्त करती है। साधना पथ पर सतत अग्रसर होते रहने का सबल भावनाओं द्वारा ही जुटाया जा सकता है। सद्गति-इच्छुक मनुष्य के लिए भावनाएं परम मित्र के समान होती है। ये जीव के भवभ्रमण को भी समाप्त कर देती हैं, इसीलिए कहा गया है—"**भावना भवनाशिनी**।" □

सहयोगी ग्रन्थ सूची

अनुत्तरोपपातिक
अध्यात्मसार
अनुयोगद्वार सूत्र
अध्यात्म रामायण
आचारांग सूत्र
आचारांग सूत्र टीका
आदिपुराण
आवश्यकनिर्युक्ति
आवश्यक सूत्र
उत्तराध्ययन सूत्र
उत्तराध्ययन सूत्र . टीका
उपासक दशा
ओघनिर्युक्ति
औपपातिक सूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
ज्ञातृधर्मकथांग सूत्र
ज्ञानार्णव
जीवाभिगम सूत्र
तत्त्वार्थ सूत्र
तत्वार्थाधिगम भाष्य
तन्दुल वैचारिक
दशवैकालिक सूत्र
दर्शनशुद्धि तत्व
धर्मबिन्दु
ध्यानशतक
नियमसार
निशीथ चूर्णि
नीतिवाक्यामृत
पर्युषण कल्प सूत्र
पञ्चाशक
प्रवचनसार
प्रशमरतिप्रकरण
प्रश्नव्याकरण सूत्र
पातंजल योग सूत्र
बारस अणुवेक्खा
बृहत्कल्प भाष्य
बृहद् द्रव्य संग्रह
बृहद्नयचक्र
भगवती सूत्र
भगवती आराधना मूल
भावना शतक
मूलाचार
योगदर्शन
योगवाशिष्ठ
योगशास्त्र
रामचरितमानस
विष्णु पुराण
व्यवहार भाष्य
समयसार
समवायांग सूत्र
स्थानांग सूत्र
सूत्रकृतांग (टीका)
श्रमण सूत्र